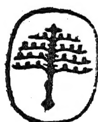
विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक'

कुटिया का राजपुरुष



राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य : तीन रुपये पचास पैसे

प्रथम संस्करण, १९६९
मुद्रक : कुकरेजा प्रेस, दिल्ली-३२

KUTIYA KA RAJPURUSH by BATUK

Poetry Rs. 3.50

भूमिका

यह खण्ड-काव्य मेरी अखण्ड साधना का फल है, अनथक श्रम का परिणाम। प्रसन्नता है कि शास्त्री जी की अदम्य शक्ति ने जैसे उनका साथ दिया, वैसे ही मैं भी इस कठिन कार्य को पूरा कर सका। शास्त्री जी का आदर्श मेरा बहुत बड़ा सम्बल रहा। यह सत्य का स्वीकार है, अत्युक्ति का अंहकार नहीं।

रचना की भाषा शास्त्री जी के व्यक्तित्व की भांति ही सरल रखी गई है। छन्दों मे प्रवाह भी उनके अबाध प्रवहमान गत्यात्मक जीवन की भांति रहे, अतः वैसी ही प्रवाह-पक्तियां चुनी। चुनीं नही स्वत. प्राप्त होती चली गई। जहां कहीं स्थिति बदली या भाव-परिवर्तन हुआ है वहां पद्य-प्रवाह मे भी अन्तर आया है। करुण और वीररस के प्रसंगों मे प्रगीतात्मकता भी अपेक्षित समझी गई। अतः कुछ गीत कहीं आए है। यह छन्द-विधान कथा-गान मे व्यवधान नहीं बना है, अपितु कथा श्रवण-श्रम का अनुपान ही है। छन्द को मैने बंधन नही माना, अतः वहां नियम-बन्धन न मिले तो कोई आश्चर्य नहीं। छन्द तो गद्य-कथा को पद्य-प्रवाह देता है,जिससे लय-तरंगों पर तैरती कथा दूर तक, देर तक जा सके, बनी रहे।

काव्य चाहे खंड हो, चाहे पूर्ण (महा), उसकी रचना निश्चय ही एक

आयोजन है। इस आयोजन में मेरी कोई संयोजना-दृष्टि नहीं रही है, एक प्रयोजन रहा है—शास्त्री जी के महान् अतः आदरणीय व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति देना। प्रबन्ध-काव्य की किसी शास्त्रीय दृष्टि का अवलम्बन मैंने नही लिया। कोई क्रम-बद्धता नहीं रखी। क्रम है तो केवल इतना ही कि आगे की बात कहीं पहले कहने की भूल से बचा हूं। हां, यह भी है, प्रत्येक सर्ग के अन्त मे आगामी का संकेत है और सभी कहीं अन्त में दोहा रखा गया है। घटनाएं मैंने केवल वे ही ग्रहण की है जो शास्त्री जी के व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि भर रही है। मैंने न तो देश के स्वाधीनता-संग्राम का इतिहास लिखा है और न ही पाक-भारत-संग्राम का। इन दोनों इतिहासों के वीच शास्त्री जी के चमकते हुए व्यक्तित्व पर ही मेरी दृष्टि टिकी रही है। मैं आश्वस्त हूं कि वह चमकता हुआ व्यक्तित्व इस काव्य में पूर्णतया अभिव्यक्त हुआ है।

इस काव्य को लिखते हुए मैंने अनुभव किया कि कविता की भूमि कठिन नहीं है, और न ही वहां कोई श्रम करना पड़ता है। कठिनाई होती है, श्रम लगता है इतिहास को पद्य-बद्ध करने में। शांत-एकांत हृदय-प्रदेश में रहने वाली सुकुमार भावनाओं से लालित-पालित कविता तो क्या, अर्थ-व्यर्थमयी गुनगुनाहट—जिसे कोरा पद्य कहते हैं—भी इतिहास से घबराती है। घटनाओं, नामों और तिथियों के आंकड़ों का प्रसंग आते ही पद्य भी फिसल-फिसल जाता है। गद्यात्मक पद्य लिखने में अपनी कोई रुचि नहीं। 'राजपुरुष' और 'युद्ध-विजेता' इन दो सर्गों के लिखने में अवश्य श्रम करना पड़ा। पर वहां भी श्रम-सुख-सा रहा। क्योंकि शास्त्री जी का व्यक्तित्व मैंने वहां भी उभार ही लिया। केवल उतना ही मेरे हाथ आता गया जितने की मुझे आवश्यकता थी। इन और ऐसे ही अन्य प्रसंगों में पद्य-बद्ध रचना हुई है, कविता नहीं। असल में वर्णनात्मकता को लय-तान देते हुए कोरा पद्य ही लिखा जाता है, कविता नहीं। मैंने फिर भी कविता की रक्षा की है। मैं समझता हूं जहां लालबहादुर का व्यक्तित्व है वहां कविता स्वयं विद्यमान है। उसके व्यक्तित्व को मैं सर्वोपरि मानकर चला हूं, अतः कविता पहले उमड़ी, पद्य पश्चात् आया।

'कुटिया का राजपुरुष' यह नाम मैंने क्यों दिया ? दो बातें हैं—शास्त्री जी का वामन-व्यक्तित्व, लघुता से गुरुता की ओर गमन। निर्धनता में पलकर वे राजत्व के किस उच्चतम गौरव-गिरि तक नहीं पहुंचे ! उनके समूचे जीवन की, उनके पूर्ण व्यक्तित्व की अनुगूंज इसी नाम में तो जान पड़ी, सुन पड़ी। दूसरी बात, शास्त्री जी के महा-प्रयाण का दुःखद समाचार मैंने प्रातः चार बजे के लगभग सुना था। सहसा मेरे मुख से निकल पड़ा था—कुटिया का राजपुरुष ! फिर मैंने इसी नाम को लेकर आकाशवाणी से एक रूपक का प्रसारण भी किया, जिसे सभी ने सराहा। लोगों पर उसका प्रभाव पड़ा था। तभी से मुझे 'कुटिया का राजपुरुष' मोह-मुग्ध करता रहा है। उसी मोह-मुग्ध अवस्था में मैं आज भी हूं। ऐसी दशा में इस रचना को 'कुटिया का राजपुरुष' नाम मिल जाना सहज ही था। इस नाम में लालबहादुर जी का व्यक्तित्व भी निहित है, और मेरे मन का काव्य भी। सर्गों के नामांकन में भी ये ही दोनों बातें हैं।

जैसा भी कुछ मुझसे बन पड़ा प्रस्तुत है। पाठकों को भी अच्छा लगे, यही इसकी बड़ी सफलता होगी और यही उपलब्धि भी।

विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक'

जालन्धर

पूर्णिमा, अधिक आषाढ शुक्ल,

शक सम्वत् १८९१

विषय-क्रम

कुटिया का राजपुरुष

१

कुटिया का लाल

प्रभु की माया कहो प्रकृति को या विराट् की काया,
हैं दोनों प्रतिरूप परस्पर देह या कि हो छाया।
सर, सरिताएँ, सिंधु, सूर्य, शशि, नक्षत्रों की माला,
गिरिवर, गहनगुहाएँ, भू, नभ, घोर तमस्, उजियाला।
समतल, गहरे खड्ड, उर्वरा, ऊसर, मरुथल, टीला,
सभी कहीं पर एक उसी की विकस रही है लीला।
लता-गुल्म के साथ-साथ जो फूल-शूल उपजाता,
महावृक्ष के तले दूब भी नन्हीं वही बिछाता।
वही युगों में बँटा हुआ, बन सतयुग, द्वापर, त्रेता,
कविर्मनीषी कभी, कभी है संत, सुधारक, नेता।
कभी शीश पर मुकुट, हाथ में कभी लकुटिया लेता,
शांति-दूत है कभी, कभी तो बनता युद्ध-विजेता।

नारायण को नमस्कार है नर को प्रभु के नाते,
भरत भूमि को नमन जहाँ नर नारायण बन जाते।

अपने इस भारत की मिट्टी कितनी गौरवशाली !
वीर-प्रसूताएँ जनती हैं सन्तति निपट निराली !
आकृति कुसुम-समान सुकोमल किंतु वज्र-सी छाती,
जिसे देखकर काल काँपता और प्रलय थर्राती।
ऐसा ही सुत ले हुलसी थी माता रामदुलारी,
कर्म-कथा जिसकी कठोर थी मर्म-कथा थी प्यारी।
नन्हा शिशु पानी रखता था शिशु को रखता पानी,
कैसी अद्‌भुत बात! बात पर लो बढ़ चलो कहानी।

हो गया दो मास का शिशु माँ चली गंगा नहाने,
पुण्य-फल पाने? गँवाने गाँठ का धन? कौन जाने।
था इलाहाबाद में गंगा-किनारे एक मेला,
लोक आया था वहीं खिच, कौन घर रहता अकेला।
ठाठ घाटों के नये थे हाट उन पर थे सजाये,
देखकर शृंगार उनका दिव्य सुरपुर भी लजाये।
सुरसरी भी भर पुलक से लहरियों में गीत गाती,
जा रही थी यों उछलती हो न अपने में समाती।
लुट रहा था पुण्य तट पर भक्त मिलकर लूटते थे,
मात्र जल के दर्शनों से पाप-संचित छूटते थे।
विविध विधि श्रद्धा-समर्पण पुण्य तट पर हो रहा था,
जिस तरह जिसको जँचा था, कर्म की मसि धो रहा था।
कुछ चढ़ाते शीश पर जल, आचमन कर लौट आते,
कुछ नहाते बैठ तट पर धार में कुछ कूद जाते।
तैरता था एक जल में, एक डुबकी ले रहा था,
एक कोई धार के विपरीत नौका खे रहा था।

युवक-युवती, प्रौढ़, बालक-बालिकाएँ, वृद्ध, नारी,
आ जुटे थे घाट पर सब बढ़ चली थी भीड़ भारी।
माँ लिये शिशु को करों में प्यार से नहला रही थी,
गा रही थी गीत गुन-गुन, चित्त को बहला रही थी।
ज्ञान था इसका न कुछ भी हो गई है कौन बेला,
आह! तब ही भीड़ का आया भयानक एक रेला।
पलक झपते दृश्य बदला, खेल विधना के निराले!
भीड़ में कुचली गई माँ, कौन रख पाता सँभाले?
दूर हाथों से छिटककर हो गया हा! लाल प्यारा!
हो गया मँझधार तत्क्षण हाय! सुरसरि का किनारा!
उस अनिश्चय की घड़ी में भीड़ भी छँटने न पायी,
चेत कर शिशु का, जननि की चेतना कुछ लौट आयी।
गोद सूनी देख सहसा चकित चौंकी हड़बड़ायी,
मैं कहाँ हू? शिशु कहाँ है? वह समझ कुछ भी न पायी।
सामने देखा, खड़ा था रो रहा परिवार सारा,
हा! न कुछ भी सूझता था, खो गया सबका सहारा।
साँस थी अवरुद्ध, मुँह से फूट पड़ती थी न वाणी,
उर उमड़कर बह रहा था, बन नयन से सतत पानी।
देखकर स्थिति की विषमता रो पड़ी जननी बिचारी,
"नाम मेरा व्यर्थ है, मैं राम को कब हूँ दुलारी?
राम मेरा बाम है, हतभागिनी मुझ-सी न नारी,
दिन दहाड़े लूट ली निधि, क्या दया मन में विचारी?
क्यों चली आई यहाँ पर? हाय! मेरा भाग्य फूटा,
धर्म लुटता था अरे जब, क्यों मुझे फिर हाय लूटा?
झूठ है, भवतारिणी भागीरथी तू क्यों कहाती?
भेंट लेती बालकों की, बीच धारा में डुबाती!

कौन कहता पुण्य होता ? पाप है इस जगह आना,
वह चला आये यहाँ पर, हो जिसे निज सुत गँवाना।
कौन कहता है दयानिधि ? निर्दयी तुझ-सा नहीं है,
हाय ! तुझ जैसा वधिक मैंने नहीं देखा कहीं है।
दीन का तू बन्धु ? मुझको तो नहीं विश्वास होता,
लूटता मुझ-सी अकिंचन को स्वयं वह दीन होता।
क्या बिगाड़ा था बता दे? कब उचित यह क्रूर क्रीड़ा!
तू अरे कैसा जनक है ? जननि की जाने न पीड़ा !
देख लो, हे जगत् वालो ! क्रूर है कितना विधाता,
कर रहा संहार फिर भी है जगत्-पालक कहाता।
बोल रे, मर्मज्ञ ! तूने मर्म को क्यों तोड़ डाला ?
हाय ! घटवासी कहाँ तू ? जब हृदय-घट फोड़ डाला ?
शान्ति-दाता ! बोल रे ! कैसे हृदय अपना जुड़ाऊँ ?
क्यों छिपाया लाल मेरा ? बोल, कैसे उसे पाऊँ ?
बोल री गंगा! जननि के चित्त को तू जानती है,
और अबला के करुणतम मर्म को पहचानती है।
किस अतल में लाल मेरा है छिपाया तू बता दे,
जह्नु ऋषि के आश्रमों का अन्यथा मुझको पता दे !
माँग लूँगी भीख उनसे निज सुता से लाल ला दो !
है न यदि यह बात संभव, आज जल उसका सुखा दो!
पुत्र के बिन विश्व भर में गति कहीं मेरी नहीं है,
प्राण के बिन देह जीवित भी कभी देखा कहीं है ?"

इस तरह रोती बिलखती पीटती करुणार्द्र छाती,
थी कभी जाती नगर में कभी तट पर लौट आती।

घूमती थी हर गली में बावली रो-रो बनी थी,
पुत्र को घर-घर पुकारा पीर मर्मान्तक घनी थी।
"पुत्र मेरे तू कहाँ है? तू कहाँ है लाल! राजा!
प्राण! तू मेरे कहाँ है? तू जहाँ है अभी आजा!"
चातकी, केकी, टिटहरी-सी बनी निशि-दिवस रोती,
चार दिन तक फिरी मारी पुत्र के हित बिसुध होती।
पाँचवें दिन एक भोला-सा कृषक अति दीन आया,
साथ में रख टोकरी में दिव्यतम था रत्न लाया।
कंठ था अवरुद्ध, गद्‌गद किन्तु उसकी मधुर वाणी,
रोम में रोमांच था तो लोचनों में विरल पानी।
अनमने मन से जननि ने टोकरी का मुख टटोला,
"धैर्य धर धीरे धरो कर!" कृषक साहस साथ बोला।
"माँ! तुम्हारा पुत्र है यह, राशि कुछ मेरी नहीं है।"
"पुत्र है मेरा? कहाँ है? स्वप्न सच होता कहीं है।"
"सत्य है यह तो तुम्हारा, स्वप्न तो मुझको हुआ था।
कृष्ण बन जिस दिवस शिशु ने टोकरी को आ छुआ था।
डूबते के ही लिए तो बन गया था यह सहारा।
मोह-ममता ने इसी की उस दिवस मुझको उबारा।
किस तरह यह आ गिरा था टोकरी में कौन जाने?"
"राम की लीला निराली, राम रचता, राम जाने।"

चुंबनों से भर दिया शिशु-मुख न आगे बोल पाई,
ईश की करुणा, कृषक की वह कृपा कब तोल पाई?
पल्लवों पर लालिमा स्मिति पंकजों में थी समायी,
कह रहा संकेत में शिशु—माँ! नहीं तू जान पायी।

तैरना मैं सीखने को कूद गगा में गया थ.,
अन्ततः तैराक मैं तो एकदम बिल्कुल नया था।

अस्तु, यह थी एक घटना जो कि शिशुता में घटी थी,
किन्तु, सारी आयु उसकी इस तरह से ही कटी थी।
कंटकों में ही पला था फूल-सा वह मुसकुराया.
सकटों के सामने भी शीश कब उसने झुकाया।
डेढ़ वर्ष भी बीत न पाया वज्र भयानक टूटा,
स्वर्ग सिधारे पिता, भाग्य ने शिशु को सहसा लूटा।
माँ विधवा हो गई काल को उस पर दया न आई,
कुंदन की वह डली अग्नि में दूनी गई तपाई।
तपकर और खरा होता है, उज्ज्वल होता सोना,
रामदुलारी को भी आखिर था ऐसा ही होना।
सहनशक्ति की वह प्रतिमा थी, साहस, धीरज वाली,
निज सतति की जीवन-नौका को खेकर पार निकाली।
तपस्विनी नारी ने रखकर प्रभु पर अटल भरोसा,
बड़ी-बड़ी दो सुता, एक सुत; सबको पाला-पोसा।
दो बहनों के बीच एक था नन्हा छोटा भाई,
प्यार, मोह, अतिश्रद्धा, ममता उसने सबसे पाई।
घर-बाहर का चंद्र किंतु था वह आँखों का तारा,
नन्हा था इसलिए सभी ने 'नन्हे' नाम पुकारा।
बड़ा हुआ तो 'लाल बहादुर' यह नन्हा कहलाया,
जिसने ऐसा वीर बहादुर जना धन्य वह जाया।
माता ने बचपन में उसको ऐसा पाठ पढ़ाया,
झुका न बोला झूठ. लोभ में फँसा नहीं ललचाया।

बचपन की घटना; शाला के बच्चे चहक रहे थे,
'नन्हे' भी था साथ उन्हीं के साथी बहक रहे थे।
लौट रहे थे घर को; पथ में एक बगीचा आया,
बड़े-बड़े आमों को देखा, मुंह में पानी आया।
लगे ताड़ने आम, उठाकर पत्थर तरु पर मारे,
'नन्हे' देख रहा था सब कुछ होकर खड़ा किनारे।
नहीं आम की तनिक लालसा उसको रही सताती,
किंतु फूल की गंध उसे थी रह-रहकर ललचाती।
एक गुलाब खड़ा था अपनी मधुर सुरभि बगराता,
मुसकाता था सुमन कि मानो अपने पास बुलाता।
'नन्हे' आगे बढ़ा फूल को उसने ज्यों ही तोड़ा,
त्यों ही माली घुसा बाग में डंडा लिया निगोड़ा।
सुनी गालियाँ लड़के भागे अपनी जान बचाये,
नन्हे ने पर उसे देखकर दो पग नहीं बढ़ाये।
कान खींचकर, डाँटा-डपटा, माली ने फिर मारा,
हुआ रुआँसा, सुबक-सुबककर बोला वह बेचारा—
'बिना बाप का लड़का हूँ मैं, कोई नहीं सहारा,
मैं निर्दोष, मुझे क्यों, तुमने बिना बात ही मारा।"
माली बोला—"तब तो तुमको और अधिक मैं मारूँ,
बिना बाप के लड़के की मैं आदत अभी सुधारूँ!
सुनो, सदा के लिए गाँठ में मेरी कथनी बाँधो,
अच्छे-से-अच्छा बनने का लक्ष्य आज से साधो।
बिना बाप के, इसीलिए तो गुरुतर भार पड़ा है,
अच्छे बच्चे बनो कि तुमको बनना बहुत बड़ा है।"
सुनकर नन्हे ने माली को बड़े ध्यान से देखा,
अन्तरपट पर खिचीं उक्तियाँ ज्यों पत्थर की रेखा।

उसको लगा कि जैसे भीतर अब हो चला उजाला,
माली नहीं यही गुरुवर है दिशा दिखाने वाला।
दृढ़ संकल्प किया मन-ही-मन पक्का नेक इरादा,
ऊँचे होंगे सब विचार तो जीवन होगा सादा।
अच्छे-से-अच्छा ही प्रतिदिन यदि मैं बनता जाऊँ,
इससे बढ़कर और भला क्या जीवन का फल पाऊँ?'

जो किया संकल्प पूरा कर दिखाया,
चल कुटी से राजपथ तक घूम आया।
थी लगन की कठिनतम बस डोर बाँधी,
लाँघ लीं नदियाँ सुला दीं प्रलय आँधी।
दीखता नन्हा, मगर भीतर बड़ा था,
देह से दुबंल भले, मन का कड़ा था।
वित्त में कम, वृत्त में अद्भुत-निराला,
आत्मबल, विश्वास, साहस, धैर्य वाला।
बुद्धि वैभव इस तरह का कुछ दिखाया,
संकटों को कंठ से हँसकर लगाया।
दूरदर्शी, समय की पहचान वाला,
आप सँभला, हर परिस्थिति को सँभाला।
पूर्ण जीवन कर्म की सुंदर लड़ी है,
एक घटना और बचपन की बड़ी है।

जाह्नवी के एक तट वाराणसी है,
दूसरे तट राम की नगरी बसी है।

बीच दोनों के अगम जल लहलहाता,
पुल नहीं था जो कि दोनों को मिलाता।
राम की नगरी रचा था एक मेला,
व्यर्थ है, यदि गाँठ में अपने न धेला।
किंतु आग्रह साथियों का यदि बुला ले,
प्यार की मनुहार टलतीं हैं न टाले।
एकता में बल बड़ा है यदि निभाले,
प्यार के बल पार होते नदी-नाले।
साथ मित्रों के गया फिर-घूम आया,
किंतु नन्हे को तनिक मेला न भाया।
कट गया दिन घूम-फिरकर साँझ आई,
पार जाने को सभी ने ली विदाई।
कठिन नन्हे के लिए पर यह घड़ी थी,
क्योंकि उलझन सामने उसके खड़ी थी।
नाव वाला यदि किराया माँग लेगा!
पास पैसा है न कैसे वह भरेगा?
हल समस्या का नहीं जब खोज पाया,
साथियों के बीच से वह लौट आया।
बैठ नौका में, गये जब पार सारे,
धीर गति से वह गया गंगा-किनारे।
शांत मन से सामने उसने निहारा,
बह रही थी सुरसरी की प्रखर धारा।
पाट आधा मील चौड़ा हो गया था,
क्षितिज मानो बीच तम के खो गया था।
अगम श्रावण-भाद्रपद की वह नदी थी,
होड़ जीवन-मृत्यु में मानो लगी थी।

मृत्यु को ठगना मगर वह जानता था,
विपद को तो तुच्छ तिनका मानता था।
रक्त उसकी नाड़ियों मेंतेज़ दौड़ा,
हो गया कुछ वक्ष उसका और चौड़ा।
वक्ष पर से खुल गई दोनों भुजाएँ,
हाथ जोड़े ईश से माँगी दुआएँ।
ताल ठोकी बीच धारा कूद आया,
काल ने उस साहसी को थपथपाया।
बढ़ चला भुजबल लिये निज पथ बनाता,
आरती भागीरथी की गुनगुनाता।
जा रही गंगा उफनती वेग वाली,
थीं तरंगें नृत्य करतीं या कि काली!
जो कहो; आशीष सबसे पा रहा था,
तरल जल पर सरल थल सा जा रहा था।
लघु सरोवर बीच भी जो डूब जाता,
जा रहा था अगम जल पर विजय पाता।
दस बरस का बाल था या पुरुष पूरा,
काम उसका था न कोई भी अधूरा।
वेग वाली धार हो या रुद्ध पानी,
हार जीवन में किसी से भी न मानी।
हर चुनौती को सदा उसने लताड़ा
अंततः इस आपदा को भी पछाड़ा।
पा विजय जलधार पर इस पार आया,
घर पहुच माँ का अतुलतम प्यार पाया।

यह तो पूर्वाभ्यास था, आरम्भिक संगीत !
दिव्य महानाटक अभी, होना है अभिनीत !
मात्र मातृ का प्यार क्या ? मातृभूमि का नेह,
उसको रहा पुकारता, प्रतिपल निस्सन्देह ।।

२

शास्त्री जी

जय-जयकार सदा है प्रभु का, उस किसान की जय हो,
गंगा से ले दिया जननि को, प्यारा पुत्र सदय हो।
उस माली को सुमन-मनों का बारम्बार नमन है,
गुरुवर बनकर निर्धन जन को दिया ज्ञान का धन है।

दिव्य दृष्टि से लालबहादुर बढ़ा पंथ पर अपने,
मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लगा देखने सपने।

वैसे तो वह शिशुता से ही दृढ़-प्रतिज्ञ निर्भय था,
विद्यालय से मिला और भी उसको सूत्र विजय का।

निष्कामेश्वर मिश्र सरीखे गुरुवर मिले अबाध,
मातृमूमि से जिन्हें प्रेम था, जिनका ज्ञान अगाध।

वीर शिवाजी की गाथाएँ, श्री प्रताप का त्याग,
कभी सत की वाणी कहते कभी देश-अनुराग।
लोकमान्य के जीवन-दर्शन का समझाते अर्थ,
"कटे दासता में ग़ैरों की वह जीवन है व्यर्थ।
जो जीता है पराधीन हो उस नर को धिक्कार,
है स्वराज्य तो देखो अपना जन्म सिद्ध अधिकार।
मात्र देश में नहीं, विश्व में उसका होता नाम,
जन्म भूमि के लिए वीरवर जो आ जाता काम।"
देश-प्रेम के मतवालों की मची हुई है धूम,
फाँसी के फन्दों को हँसकर जो कि रहे हैं चूम।

एक ओर थी गुरु की वाणी और दूसरी ओर,
नेताओं की ललकारों का मचा हुआ था शोर।
"उठो! उठो, हे हिंदवासियो! जगो देश की शान!
अरे! गुलामी के जीवन का क्यों सहते अपमान?
कह दो, हमको नहीं चाहिए यह दिल्ली-दरबार,
कह दो, हमें नहीं रखनी है यह ज़ालिम सरकार।"
गांधी की आँधी थी आयी कर्षित करती ध्यान,
"पराधीन अब नहीं रहेगा प्यारा हिन्दुस्तान।
सुनो भाइयो! बहनो! युवको! हो जाओ तैयार,
सत्य, अहिंसा, असहयोग को मन में लो तुम धार।
तजो विदेशी वस्तु, न उनका करना है उपयोग,
किसी मूल्य पर नहीं करेंगे शासन से सहयोग।
उठो, लिखो अब नये सिरे से भारत का इतिहास,
इस अंग्रेज़ी-शासन पर अब करो नहीं विश्वास।

दो सरकारी नौकरियों से अपना नाता तोड़,
छात्र-वृन्द ! सरकारी कालिज-विद्यालय दो छोड़।
मत मानो तुम किसी तरह के सरकारी कानून,"
अन्यायों को देख देश का खौल उठा था खून।
बनते थे कानून नये नित होते अत्याचार,
जाग उठा था सारा भारत करने को प्रतिकार।
बढ़ी लहर थी असतोष की भड़क उठा था क्रोध,
सबके मन में शासन के प्रति जागा एक विरोध।
देश प्रेम को चिनगारी बन भड़क उठी थी आग,
एक छोर से अपर छोर तक देश उठा था जाग।
बाल-बालिका, नर-नारी क्या बूढ़े और जवान,
जाग उठे थे सबके मन में जागा था तूफ़ान।
घी की आहुति बना आग में जलियाँवाला बाग,
गोरे शासन ने खेला था जहाँ रक्त से फाग।
जहाँ सहस्रों की संख्या में लोग दिये थे भून,
निर्दयता से गया बहाया भारत माँ का खून।
क्रुद्ध हुए मानस में उमड़ा एक नया तूफ़ान,
कौन भला सह सकता था अब यह भारी अपमान।
"असहयोग ! सहयोग नहीं ! !" थी चारों ओर पुकार,
गूंज उठा "जय भारत माता !" गाँधी का जयकार।
दिशा-दिशा से गूंजी गुरुतम एक प्रबल झंकार,
"देश-प्रेम की बलिवेदी पर सब कुछ देंगे वार।
भारत के जीवन में आया था अब नूतन मोड़,
बड़े-बड़े लोगों ने अपनी नौकरियाँ दीं छोड़।
कौन बड़ा बलिदान करेगा ? आपस में थी होड़,
उच्च पदों से सभी रहे थे अपना नाता तोड़।

लौटाने सब लगे, जानकर अपने व्यर्थ खिताब,
बन्द लगीं होने कानूनों की सब ओर किताब।
जलीं होलियाँ, वस्त्र विदेशी और विदेशी माल—
भस्मीभूत लगे सब होने लपटे थी विकराल।
जहाँ-जहाँ भी खुलीं विदेशी मदिरा की दूकान,
धरना देने लगी वहीं पर अबलाएँ अनजान।
और जहाँ भी अंग्रेज़ी सत्ता का रहा प्रसार,
प्राण-पणों से वहीं-वही पर होने लगे प्रहार।
छोड़ पढ़ाई, घोष लगाते, युवकों के समुदाय—
"पुस्तक कर दो बन्द, खोल दो अब नूतन अध्याय।
अपने रहते भारत माता यदि गुलाम रह जाय,
इससे बढ़कर और देश से क्या होगा अन्याय?
अपनी माता बनी बंदिनी सहती अत्याचार,
युवा रक्त निर्लज्ज हाय रे! तुझे कोटि धिक्कार।

लालबहादुर के कानों तक जब पहुँचे ये बोल,
उसके अन्तरतम में जागी एक नयी हिल्लोल।
घर की हीन दशा छूती थी उसका कोमल मर्म,
"पढ़ूँ या कि आन्दोलन में लूँ भाग? ठीक क्या कर्म?
चला गया यदि जेल सभी को होगा कितना कष्ट!
रुकी पढ़ाई तो आगे का जीवन होगा नष्ट!
पूरा पढ़-लिखकर यदि मैंने खोज लिया कुछ काम,
संकट कट जाएंगे घर के कुछ होगा आराम।"
सोच-सिन्धु में कभी तैरता था जाता था डूब,
किन्तु शीघ्र ही द्वन्द्व-दशा से उसको आई ऊब।

तिलक, गोखले, गांधी, विट्ठल, श्रीचितरंजनदास,
मोतीलाल, जवाहर, वल्लभ, श्रीराजेंद्र, सुभाष।
वीर लाजपत जैसे नेता गये सामने घूम,
विद्युत् गति से ली स्वदेश की मिट्टी उसने चूम।
दसवीं कक्षा, पूर्ण परीक्षा के थे कुछ दिन शेष,
किन्तु पढ़ाई से बढ़कर था उसको प्यारा देश।
बुला रहा था खड़ा सामने उसको उसका कर्म,
हो जाना बलिदान देश पर सबसे उत्तम धर्म।
अंतरतम क्या? रोम-रोम था उसका रहा पुकार,
माँ से बढ़कर भारत माता हो उस पर बलिहार।
उठा, चला, दौड़ा झट आया वह अपने (अ) स्कूल,
गुरु से मांगी विदा शीश पर धरी पगों की धूल।
ऊँच-नीच समझाया बहु विधि किंतु न मानी बात,
उसको सम्मुख दीख रहा था उज्ज्वल नया प्रभात।
चढ़ा चंग-सा आया घर पर, बढ़ा हर्ष-हिन्दोल,
माँ से मन की कही; जननि के थे ये गद्गद बोल—
"बेटा! भला-बुरा चुनने की जब तुझमें है सूझ!
कौन पहेली सुलझाऊंगी? मैं अबला अनबूझ!
धर्म मानकर कर्म करेगा, दूंगी तेरा साथ!
होगा ऊँचा तेरा, मेरा, भारत-माँ का माथ!"

शुभाशीष माँ का मिला पुत्र को था,
भला क्यों न मिलता? सही पात्र जो था!
लिये गर्व-गौरव, चला तान छाती,
करभ-सी प्रगति थी रही मन लुभाती।

नयन में विभा थी, वदन पर प्रभा थो,
गिरा गर्व से राष्ट्र का गान गाती।
चला बाल-रवि रश्मि-रथ निज बढ़ाये,
बढ़ा जा रहा भाल ऊँचा उठाये।
कि सहसा सुनीं; क्रांति की बोलियाँ थीं,
चली आ रहीं सामने टोलियाँ थीं।
गले माल, माथे सजी रोलियाँ थीं,
दनादन वहीं चल रही गोलियाँ थीं।
जुड़े बाल, नारी, युवा, वृद्ध सारे,
लगाते चले जा रहे खूब नारे।
"न परतंत्र भारत हमारा रहेगा,
कि इतिहास इसकी कहानी कहेगा।
नहीं व्यर्थ होगा लहू जो बहाया,
मरा देश के हित अमर वह कहाया।
मरेंगे, मिटेंगे; न लेकिन झुकेंगे,
बढ़े पाँव आगे नहीं ही रुकेंगे।
भरीं वारि से भानुजा और गंगा,
झुकेगा नहीं तब तलक यह तिरंगा।
उपनिवेश-स्वातंत्र्य तो हम न लेंगे,
मिले पूर्ण स्वाधीनता, कम न लेंगे।
चलें गोलियाँ या दगें तोप भारी,
झुकेंगी नही गर्दनें ये हमारी।
रहा है, रहेगा हमें देश प्यारा,
हमें एक-सी शूलियाँ, अग्नि-धारा।
बढ़ा वीर बालक मिला भीड़ में जा,
चला राग मारू गला मीड़ में था।

तुम सूरज तुम चाँद सितारे तुम ध्रुवतारे अरे जवानो !
पुण्य भूमि इस भारत माँ के मान, शान, सम्मान जवानो !
देखो चारों ओर अरे ये क्या घनघोर घटाएँ छायीं,
युग-युग से जो रही गुलामी उस पर दूने बधन लायीं।
अवसर है अब तोड़ फेंक दो हुई पुरानी ये जंजीरें,
भले बरसती रहें गगन से गरदन पर तीखीं शमशीरें।
अपनी हिम्मत, अपना साहस बढ़ो दिखाओ अरे जवानो !
तुम सूरज, तुम चाँद-सितारे, तुम ध्रुव तारे अरे जवानो !
तुम्हें शपथ है अपने तन की और दूध की माँ के प्यारे !
कभी न मरने दोगे भूखों, भूखे मरते बंधु हमारे !
खून जम गया? जमकर क्या वह आज बन गया सचमुच पानी!
मुर्दों में भर दो हाँ जीवन ! कंकालों में भरो जवानी !
बोल उठे जय जगत् तुम्हारी तुम विजयी हो अरे जवानो !
तुम सूरज, तुम चाँद-सितारे, तुम ध्रुव तारे अरे जवानो !
उठो, तुम्हें धिक्कार रही है बढ़ी हुई जगभर बदनामी !
तोड़ो बंधन कारा तोड़ो, हम न सहेंगे और गुलामी !
माता की आँखों के आँसू देख अगर जागे न जवानो !
तो है ये धिक्कार जवानी ! धिक् है जीवन ! तो सच मानो !
नहीं लजाओ दूध जननि का, तुम सच्ची सतान जवानो !
पुण्य भूमि इस भारत माँ के मान, शान, सम्मान जवानो !

सुना मंत्र सबके हृदय लहलहाये,
स्वरों पर उसी के खिंचे वीर आये।
सभी को लगा भव्य संदेश देता—
नहीं मात्र बालक, यही सत्य नेता।

किसी ने छुए पग, मिले कुछ गले थे,
खड़े सब उसी की ध्वजा के तले थे।
सभी ने स्वरों में मिला स्वर पुकारा,
"नहीं प्राण प्यारे हमें देश प्यारा।
सभी मिल विजय के चलो गान गायें,
इसी के लिए शीश अपने कटायें।"
बढ़ा वीर का दल विजय-गान गाता,
प्रलय-काल का जल चला हरहराता।
तभी शासकों ने सभी भाव भाँपे,
उन्हीं के कलेजे, थके पाँव काँपे।
हुआ हुक्म सैनिक दिशाएँ सँभालें,
सभी को अभी घेर बंदी बनाले।
सैनिक सुन आदेश को, दौड़ पड़े तत्काल!
बंदी कारागार में हुआ बहादुर लाल!
काटे कारागार में, पूरे ढाई वर्ष!
आनन पर आभा नई, रोम-रोम में हर्ष!

यदपि जेल-जीवन बहुत ही कड़ा था,
हुआ किन्तु आनंद उसको बड़ा था।
नई दृष्टि पाई, नया मार्ग पाया,
हुआ नव्य अनुभव, नया ज्ञान आया।
हुआ मुक्त, बालक नहीं रह गया था,
युवा केसरी-सा प्रबल बन गया था।
नई योजना अब खड़ी सामने थी,
नई बुद्धि दे दी उसे राम ने थी।

अचल बह रही थी नई प्राण-धारा,
हृदय की गुहा से किसी ने पुकारा—
"अरे, ज्ञान जिसका रहा है अधूरा,
कहां मिल सका है उसे मान पूरा ?
अभी ज्ञान का और अर्जन करोगे,
तभी देश का सत्य अर्चन करोगे।
बिना पूर्ण शिक्षा प्रगति ही नहीं है,
मिलो ज्ञान के बिन सुमति भी कहीं है।
उठो तो पढ़ो तुम अभो और आगे,
सुलझते चलेंगे सभी आप धागे।
हृदय की मधुर ध्वनि पड़ी जब सुनाई,
दिया पथ सुनहला उसे तब दिखाई।

काशी विद्यापीठ ज्ञान का अद्भुत केन्द्र बना था,
राजनीति के दिव्योत्सव का वहाँ वितान तना था।
नही विदेशी ज्ञान वहाँ पर भाव भरा अपना था,
देश-भक्त नेताओं का सच होता हर सपना था।
अति प्रसिद्ध विद्वान् ज्ञान के दाता प्रतिभाशाली,
थे अध्यापक वहाँ कि जिनकी अद्भुत तर्क प्रणाली।
परता तो थी त्याज्य सभी थे निजता के अनुयायी,
अपनी शुद्ध स्वदेशी शैली थी सबने अपनायी।
सभी छात्र भी राष्ट्रवाद के थे पक्के व्रतधारी,
नही रज्जु में बँधे हुए थे पाठ्य क्रमों के भारी।
थे निर्भीक विविध-विधि उनमें वाद-विवाद-प्रथा थी,
राजनीति के मतवालों की छिड़ती नित्य कथा थी।

अर्थ, नीति, दर्शन, समाज के गूढ़ विषय या सादा,
सब पर चलते तर्क और स्थिर की जाती मर्यादा।
शिक्षण-विधि की सबने मिलकर रचना नई रची थी,
भारत भर में इसी पीठ की भारी धूम मची थी।
इसी पीठ में लालबहादुर ने प्रवेश था पाया,
तन तो तपा हुआ था पहले मन का अवसर आया।
राजनीति तो मुख्य विषय था जाता यहाँ पढ़ाया,
किन्तु युवक ने 'दर्शन' को ही अपना लक्ष्य बनाया।
जिस पर निर्भर असहयोग का सारा ताना-बाना,
टाल्सटाय के सत्य, अहिंसा और प्रेम को जाना।
लेनिन, रामकृष्ण, गांधी तक सब कुछ ही पढ़ डाला,
और विवेकानद-चरित ने भी प्रभाव था डाला।
बंद द्वार खुल गए बुद्धि ने अपनी आँखें खोलीं,
अन्तर्मन की सुप्त भावनाएँ भी थीं हिल डोलीं।
गूढ़-ज्ञान-दर्शन ने उसके मानस को चमकाया,
खुले प्रकोष्ठ मुक्त वातायन नवजीवन था पाया।
पूर्वग्रह से मुक्त हुआ मन नव प्रकाश था पाया,
शक्ति मुक्त-चिंतन की जागी मन संकल्प समाया।
नूतन स्फूर्ति भरी प्राणों में आत्मनिष्ठता आई,
पूर्ण पूर्ति के लिए कर्म में यत्नशीलता पाई।
पढ़ने में तल्लीन ध्यान कब दिवस-रात का आया ?
श्रममय जीवन उसने अपना ऐसा कठिन बनाया।
भूख-प्यास की सुधि बिसरा दो रही उपेक्षित काया,
फल भी मिला, परीक्षाफल में सर्वप्रथम था आया।

जैसा उसका नाम था, वैसा उसका काम,
थी उपाधि जो शास्त्र की बनी वही उपनाम।
राजनीति के गगन पर, उदित हुआ नव सूर्य,
रश्मि-जाल खुलता गया, मुखर विजय का तूर्य।

३

प्रयाग का यात्री

रागातीत परम हंसों का ज्ञान-दीप्त मुख-मंडल,
जीवन बोध-रहित साधारण जन का वदन अचंचल।
दोनों की मुसकान एक-सी, दोनों सम गंगाजल,
दोनों की अनुभूति एक है, भाव विमलतम निश्छल।
व्यक्तित्वों की ऊँचाई का ठीक नहीं यह मापन,
उन्नतियों के उच्च शिखर पर बैठा है कोई जन।
सत्य यही है, ठीक यही है झाँको तुम उसका दिल,
चला कहाँ से और ज़िन्दगी की पहुँचा किस मंज़िल।
बड़ा वही है पकड़ शून्य को कर विराट् दिखलाया,
है महान् वह जोड़-जोड़कर कंथा दिव्य बनाया।
घोष उसी का रवि-मडल को बेध शून्य में छाया,
नीचे से उठ सजल घनों-सा जो ऊपर को आया।
लघुतम बीज महावट बनकर वह ही पूजा जाता,
जो अपना अस्तित्व भुलाकर मिट्टी में मिल जाता।
विश्व कर्म-रंगस्थल है यह जिसने इसको जाना,
अपनी सुयश-गीति से जाता युग-युग तक पहचाना।

जग में जो भी जड़-चेतन हैं कर्म-निरत हैं सारे,
सबको धुन है एक कर्म की, जीवित कर्म-सहारे।
तपता आप ताप हरता है वसुधा पर कर छाया,
एक टाँग पर खड़ा हुआ है विटप लिये निज काया।
मंद मधुर मलयज घर-घर में अपनी सुरभि लुटाता,
रवि प्रकाश देता है जग को सोम सुधा बरसाता।
इसीलिए तो देव-सदृश सबकी जग में पूजा है,
कर्म धर्म है परम मनुज का भाव नहीं दूजा है।
किंतु कर्म यदि स्वार्थ लिये है तो वह धर्म नहीं है,
व्यथा समेटे अपनी भर जो सच्चा मर्म कहीं है?
अपनी गंध आप जो पीता खुलता नहीं कमल है,
मुरझा जाता लगा डाल पर भले सींचता जल है।
खुलता, खिलता और सुरभि जो परहित है बगराता,
सजता वीर-पुरुष के उर वह देव-शीश चढ़ जाता।
परहित के रवि-रश्मि-जाल से खिलता कर्म-कमल है,
खंड-खंड हो बहता जगहित गिरि-निर्झर का जल है।
ठीक स्वार्थ; पर यदि परार्थ की आँच नहीं पा जाता,
शुद्ध स्वर्ण की भाँति मूर्ति की महिमा को कब पाता?
करता है निष्काम कर्म जो, जो जगहित जीता है,
गायी जाती उसी मनुज की युग-युग यश-गीता है।

ऐसा ही था लालबहादुर गुण-गण-गरिमा वाला,
भारत माँ का शीश-मुकुट या वक्ष-विजयिनी-माला।
पढ़-गुन आगे बढ़ा, चढ़ा फिर कर्म-मंच पर आया,
जन-सेवा व्रतधारी लोकानल में गया तपाया।

जन-सेवक-मंडल की उसने थी सदस्यता पाई,
जीवन भर की वहीं लगा दी जो थी करी कमाई।
गाँव-गाँव में घूम-घूमकर जाकर नगर-नगर में,
उसने दी आवाज़ जगाकर सोतों को घर-घर में—
"जाति-पाँति के झगड़े मेटो, ऊँच-नीच को छोड़ो,
तोड़ो बंधन वर्गवाद के, समता से मन जोड़ो।
वर्ण एक है फिर वर्णों का खोद रहे क्यों खाई ?
भारत माँ का जो सपूत है, कब अछूत वह ? भाई !
अपने भक्तों को समझाओ ओ हरि की प्रतिमाओ !
हरि की पूजा तब ही होगी, हरिजन को अपनाओ !
अपने से कर दूर उसे क्यों अपनी शक्ति घटाते ?
निज कर से निज अंग काटते तनिक नहीं सकुचाते !
एक वर्ण हो मुख के जैसा, पैर अपर कहलाये,
कितने दुःख की बात, देह जो अपनी ही बँट जाये !
पग तो हैं आधार घड़ौंची जैसे शीश घड़ा है,
बिना पगों के सिर के बल पर कह दो कौन खड़ा है !
पद-पूजन तो सुना, शीश का वंदन किन्तु न देखा,
पथ बन जाता वहीं कि खिंचती जहाँ चरण की रेखा।
किसको कहते बड़ा बताओ और कौन है छोटा ?
करे जाति का रूप विखंडित वही भाव है खोटा।
बनो अनेक न, एक बनो तुम, ऐक्य बलों का बल है,
मिला तृणों को बनी रज्जु से बँध जाता गज-दल है।"

चला देश की नौका खेता, उसका था यह खेवा—
दलितों, कृषकों और अछूतों, मजदूरों की सेवा !

सेवा का व्रत लिये एक दिन तीर्थराज वह आया,
जन सेवक मंडल का अपने नूतन केन्द्र सजाया।
खादी, चरखे का प्रचार भी उसने लक्ष्य बनाया,
देश-भक्ति के भावों को था घर-घर में पहुँचाया।
जाने कितने वहाँ बनाये उसने निज अनुयायी,
जन-जन के अँधियारे मन में प्रभा उसी की छायी।
मृदु स्वभाव, मधु-मधुरा-वाणी, सद्व्यवहार सना था,
सभी कार्यकर्त्ताओं से भी उसका प्रेम घना था।

अति प्रसिद्धि जब फैल रही थी उसके भोलेपन की,
महिमा वाले, देशभक्त, अति कर्मशील जीवन की।
देने लगे निमंत्रण उसको बहुविधि लड़की वाले,
आ जाते थे तरह-तरह के वे उपहार सँभाले।
कितनी ही सुकुमार किशोरी बहुत प्रलोभन लाईं,
किन्तु युवक को उनकी बातें नहीं भूलकर भाईं।
देश-प्रेम का अटल भाव था पलता उसके मन में,
इससे बढकर प्यार कौन पा सकता था जीवन में।
सोचा करता यही सदा वह वन एकांत-निवासी—
"छाई है जब आज देश में चारों ओर अमा-सी।
अपने मन-मंदिर में कैसे दीपक नया जला लूँ ?
देश-प्रेम को छोड़ किसी की प्रीति और क्यों पालूँ ?
राष्ट्रभूमि को शीश समर्पित जब मैंने कर डाला,
और किसी की पहन सकूँगा मैं कैसे वरमाला ?
मातृभूमि के लिए बना हूं, मैं सेवा व्रतधारी,
मेरे पथ में बाधा ही बनकर आयेगी नारी।

कंकड़-काँटों से ही मेरा पथ यह भरा हुआ है,
सुख-सपनों ने कभी भूलकर इसको नहीं छुआ है।
ले आया मैं अगर भूलकर एक सरल सुकुमारी,
पा न सकेगी कुटिया में सुख वह बरबस बेचारी !
सुख के साधन अपने घर में मैं कैसे ले आऊँ ?
तूफ़ानों के बीच तरी यह मैं कैसे खे पाऊँ ?"

हुई अंततः जीत जननि की उसने कहना माना,
ललिता जैसी ललित लवंगी को था घर में आना।
ललिता केवल ललित नहीं थी और मात्र सुकुमारी,
सजी आरती जैसे प्रभु की तन-मन से उजियारी।
असुर-विजेता देव इन्द्र को जैसे थी इन्द्राणी,
कवि को जैसे सरस्वती हो, शिव को मिली भवानी।
मिले ईश को माया जैसे काया की ज्यों छाया,
सुख-दुःख दोनों में ही उसने पूरा हाथ बँटाया।
शिवोपासिका ललिता जी ने था रहस्य यह जाना,
"औरों के सुख हेतु सदा ही होगा गरल पचाना।
सुख तो भीतर ही रहता है नहीं कहीं बाहर है,
प्रभु की छाया तले रहो तो सरल विश्व ही घर है।
धन हो चाहे अधिक बड़ा पद सुख का मूल नहीं है।
सब कुछ रहते रहे दुखी यदि समझो भूल कहीं है।
नैतिक शक्ति मनुज में रहते मिलें संपदा सारी,
यथा लाभ संतोष रखे जो वह सुख का अधिकारी।"

यद्यपि लालबहादुर का कुछ अधिक नहीं था वेतन,
किन्तु सुघर गहिणी के कारण अति सुखमय था जीवन।

घर की दीन परिस्थिति को था दिव्य दृष्टि से जाना,
किसी अर्थ संकट में उसने कभी अनर्थ न माना।
रही सासु की सेवा में रत पति सेवा व्रतधारी,
पति की तरह उन्हें भी अपनी मातृभूमि थी प्यारी।
मुख पर उनके सदा यही था—"निजता में ही सुख है,
पराधीनता से बढ़ जग में नहीं दूसरा दुःख है।
पलभर की परवशता भी तो रौरव सदृश विषम है,
हो स्वतंत्रता यदि क्षण भर की सुरपुर से उत्तम है।
जन्मभूमि यह कर्मभूमि है अपना धर्म न भूलें,
धर्म-कर्म है यही कि इसके हित फाँसी पर झूलें।
हो अपना स्वाधीन देश तुम इस पर जीवन वारो,
तिलक करो इसकी मिट्टी का उसे शीश पर धारो।
कहो कि जीवन रहते कब तक यों अन्याय सहेंगे?
पराधीनता की ज्वाला में कब तक देह दहेंगे?
जब तक बंधन नहीं कटेंगे सुख की साँस न लेंगे,
मुक्ति-हेतु जीवन का सारा सुख-विश्राम तजेंगे।
पराधीनता के कारण हो विषम अर्थ-संकट है,
दुःशासन ने आज परिस्थिति कर दी और विकट है।
दुःख-दरिद्रता तब तक अपनी हमसे नहीं हटेगी,
भारतमाता की यह बेड़ी जब तक नहीं कटेगी।"
बनी प्रेरणा वे घर भर की सबको रही सिखातीं,
तार-स्वरों से बार-बार वे एक गान यह गातीं—
"उठो देश की वीर जननियो! बहनो! ओ ललनाओ!
जन्मभूमि के लिए जिओ तुम इस पर ही बलि जाओ।"
इसी भाँति गा गीत देश के कितना समय बिताया,
अर्द्धांगिनि से बनी धन्य वह पुण्यमयी थी जाया।

आँचल में था दूध भाल पर सजी हुई थी रोरी,
गोदी में सन्तान निराली और कठ में लोरी।

ओ राजदुलारे, सो जा !
नयनों के तारे, सो जा !
मैं तुझे अंक लिपटाऊँ !
अपनी सुध-बुध खो जाऊँ !
मैं बना करों का झूला—
उस पर दुलरा-हलराऊँ !
तू सुख-सपनों में खो जा !
ओ राजदुलारे, सो जा !
नयनों के तारे, सो जा !
तू है प्राणों की छाया !
जननी के मन को भाया !
भारत की भावी आशा—
तू है सिंहिनि का जाया ! !
झट बढ़ केहरि-सा हो जा!
नयनों के तारे, सो जा !
ओ राजदुलारे, सो जा !
मत तुझको बाधा व्यापे !
तू चले भूमि को चाँपे !
सुन तेरे प्रबल स्वरों को—
अरिदल की छाती काँपे ! !
अरि को प्रलयानल हो जा !
नयनों के तारे, सो जा !
ओ राजदुलारे, सो जा ! !

इसी तरह हलरा-दुलराकर, कर संतति का पालन,
ललिता अपना समय बितातीं कर प्रभु की आराधन।
कुसुम, सुमन, हरिकृष्ण, राम, गोपाल और श्रीमोहन,
क्रम-क्रम से सब बढ़े, किया सबने विद्या का दोहन।

लालबहादुर को भाती थी राजनीति की चर्चा,
उनके लिए सभी से बढ़कर रही राष्ट्र की अर्चा।
रह प्रयाग में नेताओं के बहुत निकट थे आये,
टंडन, मोतीलाल, जवाहर के थे वे मन भाये।
टंडन जी पर उनका ऐसा अद्‌भुत रंग चढ़ा था,
सरल भाव के कारण उनका अति सौहार्द बढ़ा था।
जब-जब लालबहादुर को था पड़ा जेल में जाना,
टंडन जी ने उनके सन्तति-पालन में सुख माना।
उनको मोतीलाल मानते अपने बेटे जैसा,
प्यार-दुलार जवाहर को ज्यों उनको भी था वैसा।
हाथ जवाहर का तो उनपर सदा नेह का था ही,
निष्ठा, साहस मिले त्याग में पूरे वीर सिपाही।
वीर जवाहर ने इनको निज हाथ दाहिना माना,
लघु शरीर में छिपा हुआ था जो विराट्, पहचाना।
अनथक श्रम करने वाले वे वीरव्रती मेधावी,
जो भी सौंपा काम उसी पर सदा रहे वे हावी!
नगरपालिका और कांग्रेस दोनों ही मन भाये,
मंत्री, महासचिव से लेकर पदाध्यक्ष तक आये!
सूझ-बूझ फिर दूर-दर्शिता, मृदुल-मधुर-संभाषण,
मणि-कांचन संयोग या कि था मिला सुहागा-कंचन।

राग-द्वेष से परे उन्हें कब पक्षपात था भाया !
समझ-बूझ से शांत चित्त से उलझन को सुलझाया।
लाग-लपेट न उनको भायी रहे स्पष्टतावादी,
एक न उनके जीवन में था वादी या प्रतिवादी।
उच्च विचार सदा थे उनके और जीवनी सादी,
मन में निर्मल प्रेम बसा था तन पर उजली खादी।
रहते हुए नगर में उनको ध्यान ग्राम का आया,
था अपना कर्त्तव्य-क्षेत्र भी दूना और बढ़ाया।
लगे सोचने ग्रामों के बिन नहीं देश की गति है,
हैं पिछड़े यदि ग्राम हमारे समझो दूर प्रगति है।
ग्राम हमारे महादेश की सबसे बड़ी इकाई,
ग्रामों से ही बढ़ी हुई है भारत की सुघराई।
ग्राम हमारे महिमा वाले आदि स्रोत जीवन के,
उस विराट् की माला के हैं अति पवित्र ये मनके।
नंदन वन के जैसे इनके खेत शस्य-श्यामल हैं,
हल क्या हैं ये इनके भिन्न समस्याओं के हल हैं।
कितनी अद्भुत प्रकृति ग्राम की जाकर तो देखो ना,
अन्न उगाते किंतु काटते वहाँ कृषक हैं सोना !
ग्राम, हमारे अर्थ-तंत्र का मूलमंत्र सिखलाते,
इससे अच्छा और कहाँ हम प्रजातंत्र हैं पाते।
सभी वर्ण हैं मिलकर रहते उत्तम परम्परा है,
यहाँ ऐक्य का बाग़ सदा ही रहता हरा-भरा है।
कृषक गाँव के औढरदानी मन से भोले शंकर !
रह जाते हैं नग्न और के हित सर्वस्व लुटाकर।
धूलि-धूसरित अंग न [इनके धूल भरे ये हीरे !
स्वेद-बिन्दु ये नहीं रतन हैं श्रम-सागर के तीरे !

कीचड़ तो यह नहीं देह पर इनके चर्चित चंदन,
ये दरिद्रनारायण, इनका करो भक्ति से वंदन।
अगर चाहते जन्मभूमि की कभी नहीं अविजय हो,
तो सब मिल समवेत स्वरों में कहो कृषक की जय हो।

करते ध्यान कृषक का उनकी बनी प्रकृति भी वैसी,
कहाँ मिलेंगी सीधी-सच्ची बातें उनके जैसी?
ठंडा पानी पीकर रहना खाकर चना चबेना,
देना ही देना, बदले में किन्तु न कुछ भी लेना।
कर्म-हेतु तत्परता, फल के लिए तोष भी वैसा,
कहो मिलेगा और कहाँ संकोची उनके जैसा?
रह प्रयाग में सचमुच उनकी पलट गई थी काया,
एक नया व्यक्तित्व निखरकर शुद्ध सामने आया।
जीवन के प्रति नये सिरे से नई आस्था जागी,
परम्परा के साथ बने वे नूतन के अनुरागी।
सोचा—'तीर्थराज में आकर सच, कल्मष कट जाते,
सचमुच ही अज्ञान-घनों के दल के दल फट जाते।
गंगा में कर स्नान पाप के ढूह सभी ढह जाते,
हो विलीन बन जाते सुरसरि जो भी बह-बह आते।
इसके तट पर देखो कोई छोटा नहीं बड़ा है,
मुक्त हुआ वह जो भी आकर इसके बीच खड़ा है।
क्यों फिर मैं ही नहीं नहाऊँ बहती-तरल-तरंगा,
देखो कैसी उमड़ रही है यह निर्मल जन-गंगा!
जन-गंगा तो छुआछूत का रखती भेद नहीं है,
उसे मिटाओ ऊँच-नीच का कल्मष-क्लेद कही है।

आपस में हम लड़ें कि इससे बड़ा पाप क्या होगा ?
मारें, काटें गला मनुज का और ताप क्या होगा ?
मिटे पाप-परिताप न नाचे मानव होकर नंगा !
इसके तट पर मिलें गले हम बहती जो जन-गंगा।
भिन्न बही भाषा-धाराएँ उन्हें मिलाना होगा,
जन-गंगा के बीच वर्ण का भेद मिटाना होगा।
मिल-जुलकर यदि इसके जल में हम सब नहीं नहाये,
कहीं गिरेंगे गहन गर्त्त में जाकर बिना बहाये।
प्रेम, एकता और मेल की बहती रही त्रिवेणी,
मिल जायेगी इसी लोक में हमें मुक्ति की श्रेणी।'
इसी तरह के भाव उमड़ते उनके उर में आये,
जसे गिरिवर पर घनमाला उमड़-घुमड़ छा जाये।
बरस-बरस रसधार अनूठी भूतल तर कर जाये,
बीज आज का, खेती कल की हरी-भरी बन जाये।

धन्य जाह्नवी ! जो दिया, तूने नूतन ज्ञान,
तीर्थराज ! तू धन्य है, प्रेरक बना महान्।
नहीं यहाँ पर हो गई थी गुरुता की सींव,
भावी जीवन-याग की, यह प्रयाग था नींव ।।

४

कर्मठ बन्दी

धन्य पवित्र चरित्र उन्हीं का धन्य उन्हीं का जीवन,
अपने प्राण समर्पित करके करते लोकाराधन !
आने वाले युग में होता उनका ही अभिवादन,
जो कि काट देते हैं मिटकर विकल जननि के बंधन।
किन्तु धन्यता का यह पथ भी होता महाकठिन है,
अँधियारे की व्यथा भोग कर ही मिल पाता दिन है।
हिमगिरि के उत्तुंग शिखर की कितनी विकट डगर है!
कितने गहिर अतल में मणियाँ भरे हुए सागर है!
जो सकता है बेध मीन वह मोती वाली निर्भय,
आने वाली परंपरा में है उसकी ही जय-जय !
बाहर से कर वार दुर्ग-दुर्गम तोड़ा भर जाता,
भीतर जाए बिना, शीश पर मुकुट नहीं सज पाता।
संकट में पड़कर ही जन है सच्चा पुरुष कहाता,
लुढ़क-पुढ़क सरिता में पत्थर घिसकर शिव बन जाता !
कुट-पिट, तपकर धातु मूर्ति का रूप विमल पाती है,
कहो विकर्तन बिना वनस्पति कब विकास पाती है ?

कहाँ समझता भला सहज में मानव पीर पराई,
जब तक अपने पग में उसके फटे न कठिन बिवाई !
पीड़ा का अहसास भला क्या बिना सहे होता है ?
अपने ऊपर पड़े विपद के बिना कौन रोता है ?
वही व्यक्ति समझेगा, बंधन में कितनी कठिनाई !
जाकर जिसने जेल, हथकड़ी, बेड़ी है अपनाई !

मिला सहज यह ज्ञान बुद्धि भी जब ऐसी ही पाई ?
बढ़कर आगे लाल बहादुर ने पीड़ा अपनाई !
रह प्रयाग में जान लिया था बलि का पंथ निराला,
सदा कूदते रहे आग में, कब कुछ देखा-भाला ?
बरस पंचदश में कितने ही ऐसे अवसर आये,
आगे बढ़कर जबकि उन्होंने स्वय कष्ट अपनाये ।
जान चुके थे असहयोग की वे विस्तृत परिभाषा,
उनके सुख के क्षण भी उनसे रखते तनिक न आशा ।
जब-जब भी तो जननि भूमि ने होकर आर्त्त पुकारा,
मुक्ति हेतु वे दौड़ पड़े झट तजकर निज सुख सारा ।
एक मात्र वे यद्यपि अपने थे परिवार-सहारा,
पर वे उसको छोड़ निराश्रित, अपनाते थे कारा ।
मोह-मुक्त थे नहीं उन्होंने कोई सुविधा चाही,
वीतराग हो रहे क्योंकि वे थे बलि-पथ के राही
दमन-चक्र जो चला जेल में उसको दूर हटाया,
अनुशासन के रहे समर्थक, किन्तु न शीश झुकाया ।
जब कि लोग लघु-लघु लाभों के लिए सदा गिर जाते,
बड़ी आपदाओं में भी थे उनको सब थिर पाते ।

कई बार तो घड़ी बड़ी ही हृदय-विदारक आई,
नैनी की कारा में पाती दु:खद सूचना लाई।
प्यारी दुहिता रोग-ग्रस्त थी गिनती अंतिम घड़ियाँ,
धीरे-धीरे टूट रही थी निबल साँस की लड़ियाँ।
साथी कहने लगे अभी कारावकाश पर जाओ,
धीरज देकर सुध-बुध लेकर कुछ दिन में फिर आओ।
किन्तु नियम कारावकाश के उनको तनिक न भाये।
लिखित या कि मौखिक कैसे भी वचन नहीं दे पाये।
जेलर को था ज्ञात कि उनका कितना सच्चा मन है,
पूर्ण मनस्वी, स्वाभिमान में उन-सा और न जन है।
बिना शर्त वे पन्द्रह दिन को छूट अंतत: आये,
किन्तु सुता तो चली गई थी उसको देख न पायें।
इसी तरह का एक पत्र फिर किसी दिवस था आया,
पुत्र बड़ा बीमार पिता के दर्शन को अकुलाया।
मिली सूचना शास्त्री जी को उलझन बहुत बड़ी थी,
किन्तु समस्या वही पुरानी पथ के बीच अड़ी थी।
किसी मूल्य पर अपना वे सिद्धान्त नहीं छोड़ेंगे ?
इस छोटे व्यामोह हेतु क्या तप से मुँह मोड़ेंगे ?
जीत गया सिद्धान्त अंत में नीति-नियम था हारा,
सात दिवस के लिए चले वे आए तजकर कारा।
घर पर जाकर देखा सुख का कोई चिह्न नहीं था,
था विवाद सब ओर हर्ष तो जाकर छुपा कहीं था।
पड़ा हुआ था सुत शय्या पर निकला मोतीझारा,
तापमान बढ़ रहा कि सीमा लाँघ रहा था पारा।
अर्धचेतनावस्था में सुत अटपट बोल रहा था,
साँस डूबता, सबका साहस मानो तोल रहा था।

देखभाल, उपचार, दवा के साथ उचित परिचर्या,
लगी बीतने इसी तरह से उनकी सब दिनचर्या।
यत्न एक भी काम न आता दशा बिगड़ती जाती,
बढ़ता था उत्ताप, अवधि थी नित प्रति घटती जाती।
उधर जेल अधिकारी अपना कटुतम रूप दिखाते,
आश्वासन के बिना नहीं थे वे अवकाश बढ़ाते।
एक ओर आदर्श दूसरी ओर पुत्र की ममता,
सबसे बढ़कर कठिन नियम पालन की अद्‌भुत क्षमता।
ममता कहती—रुको, हृदय का खंड़ छोड़ मत जाओ,
कठिन कलेजा! किन्तु परिस्थिति को मत कठिन बनाओ।
देता था आदर्श नियम-पालन की उधर दुहाई,
हृदय द्वन्द्व में ग्रस्त, दृष्टि थी सुत-मुख पर ठहराई।
दिशा-बोध खो गया कि जैसे रुका समय का रथ हो,
अथ-इति से स्वाधीन चतुर्दिक् जैसे पथ ही पथ हो।
पथ पर पद रख बढ़ जाने को खड़े हुए थे तत्पर,
हृदय-पिंड निश्चेष्ट पड़ा था, मुख में क्लांत थकित स्वर।
"रुकें, पिताजी! रुकें, छोड़कर मुझे कहीं मत जायें!
तापमान था उग्र, साँस में प्रलयानिल झंझाएँ।
यह था ऐसा समय कि देखे पवि पानी बन जाए,
हिमगिरि हिले धरा भी धसके रवि ठंडा पड़ जाए।
रुकी साँस शास्त्री जी की भी नयन सजल हो आए,
किन्तु क्षणों में सुप्रकृतिस्थ हो वहाँ नहीं रुक पाए।
एकबारगी झटका देकर सारे बंधन तोड़े,
माया से हो मुक्त चले वे ममता से मुँह मोड़े।
दृढ़ चरणों से चाँप धरा को कर सबका अभिवादन,
एक ओर गौतम-से बनकर चले काटकर बन्धन।

एक यही स्वर गूँजा बाहर-भीतर, दाएँ-बाएँ,
'रुकें पिताजी ! रुकें, छोड़कर मुझे कहीं मत जाएँ।
किन्तु रुका है कहाँ भला वह जिसने गमन विचारा,
छोड़ प्राण से प्यारा बेटा अपना ली फिर कारा।

लौट जेल में आए करके शान्त चित्त मन निश्चल!
'रुकें पिताजी ! रुकें' गूँजता रहा वही स्वर अविरल !
बीत गया दिन तो श्रम करते, रात सघन घिर आई,
जपते-जपते नाम राम का तनिक पलक झपकाई।
चौंक पड़े फिर वही करुण स्वर उनको पड़ा सुनाई,
'रुकें, पिताजी ! रुकें' यही ध्वनि रोम-रोम से आई।
नींद नहीं आई फिर उनको उलझे मन के धागे,
लगे घूमने अनगिन मुखड़े उन आँखों के आगे।
निकल रही थीं सभी मुखों से रह-रह यही सदाएँ,
'रुकें, पिताजी ! रुकें, छोड़कर कही हमें मत जाए।'
चौंक चकित कुछ क्षण मल आँखें देखा दृश्य करुणतर,
धीरे-धीरे उभर चला फिर अधरों पर बुद्-बुद् स्वर—
"आह ! एक क्या पुत्र ? देश के कोटि-कोटि सुत रोते !
निर्धनता में, रोग-ग्रस्त हो, नित्य प्राण निज खोते !
कब तक रुक कर सुनूँ बताओ मैं यह करुणा-क्रंदन !
कब तक मैं चुपचाप देखता रहूँ कठिनतम बंधन !
मास-वर्ष क्या कटे क़ैद में चाहे जीवन सारा,
जब तक मुक्त नहीं सब होंगे अपनाऊँगा कारा।
कारा ही तो मार्ग मुक्ति का, रही यही परिपाटी,
कारा में ले जन्म कृष्ण ने माँ की बेड़ी काटी।"

चिन्तन का यह ही स्वर आगे जय का घोष बना था,
भारत माँ के लिए जेल में मिलता तोष घना था।
सहज तपस्या का शुचि आश्रम इसे उन्होंने माना,
सदाचरण, सन्निष्ठा, नियमित सोना, पीना-खाना।
योगासन, आयाम प्राण का, सबके वे अभ्यासी,
कठिन आत्म परिहार कि जैसे पहुँचा हुआ उदासी।
किन्तु धार्मिक सत नहीं वे निकले कमठ योगी,
उनके जैसी कर्मशीलता हुई न आगे होगी।
तन का केवल नहीं, उन्होंने मन का योग कमाया,
जाने कितना लिखा और पढ़ कितना बुद्धि समाया।
कांट, रसल, हीगेल, लास्की, लेनिन, सब पढ़ डाले,
मार्क्स, हक्सले, मैडम क्यूरी तक भी देखे-भाले।
चिन्तन, मनन, पठन-पाठन से बड़ा लाभ यह पाया,
कठिन परिस्थिति में डटकर रहने का साहस आया।
बन्दी जीवन में रहकर ही दुस्साहस को जाना,
राजनीति में कूटनीति का मल्य वहीं पहचाना।
राजनीति के नभ पर जो भी ग्रह-उपग्रह उग आते,
उनका गूढ़ अर्थ करने में नहीं विलम्ब लगाते।

नन्हा पौधा बढ़कर अब तो पूरा वृक्ष बना था,
फूल-फलों से लदा कि उसका सुयश वितान तना था।
सत्य, अहिंसा, असहयोग तो मन के बीच बसे थे,
अपनी भारतमाता के पर बधन कठिन कसे थे।

सन् इकतालिस तक थी इनसे पृष्ठभूमि बन पाई
लौह लेख लिखने की लेकिन अब भी वेला आई।

नभ, भू गूँज उठ थे सहसा—"तोड़ो बन्धन तोड़ो,
सत्य, अहिंसा तो अच्छी हैं पर उनका मुख मोड़ो।
उर में जिस रवि का प्रकाश है ताप उसीका जोड़ो,
पानी भीगी चादर भारी धरकर उसे निचोड़ो।"
गूढ़ गिरा का अर्थ समझ में नेताओं की आया,
आठ अगस्त बयालिस को फिर अंतिम तूर्य बजाया।
पहला स्वर यह—"उठो कि भारतवासी आलस छोड़ो।"
दूजा स्वर था—"छोड़ो रे! अंग्रेजो! भारत छोड़ो।"
और तीसरा स्वर गांधी का—"करो मरो या वीरो!"
दिशा-दिशा से हुआ समर्थन—"बढ़े चलो रणधीरो!"

जंग छिड़ी आज़ादी की फिर ऐसी आई आँधी,
करने या मर मिटने पर थी सबने ही कटि बाँधी।
कोटि-कोटि कंठों से निकला—"तोड़ो, बंधन तोड़ो।"
गूँज उठा था एक राग—"अंग्रेज़ो! भारत छोड़ो।"
छिड़ा गुरिल्ला युद्ध, क्रुध तो भारत का जन-मन था,
तांडव लीला गली-गली में या फिर क्रूर दमन था।

छिड़ा मुक्ति-संग्राम लगी थी बस प्राणों की बाज़ी!
लालबहादुर समरांगण में कूदे बनकर गाज़ी!
चिनगारी ले लपटें विकसीं बनीं धधकती ज्वाला,
कालसर्पिणी बनी हुई थी मधु फूलों की माला।
अंगारों पर सोना, गोली वक्षस्थल पर खाना,
नृत्य खड्ग की धारों पर था, शूली पर था गाना।
कर्मठ योद्धा प्रलयानल से खुलकर खेल रहा था,
बलि-पथ के दीपों में प्राण-स्नेह उँडेल रहा था।

पुलिस ताक में रहती हरदम फिरती मारी-मारी,
किन्तु नहीं छाया छू पाती, थक जाती बेचारी।
खेल रहे थे आँख-मिचौनी, उन्हें खेल था भाया,
बहुत दिनों तक रहे भूमिगत, रहे दिखाते माया।
लिखते लेख स्वयं मुद्रित कर उन्हें बाँट भी आते,
शासन के यमदूत नहीं पर उन तक थे जा पाते।
इधर मारते छापा, वे थे कहीं उधर खो जाते,
अभी सामने खड़े अभी फिर वे अदृश्य हो जाते।
दूर-दूर तक घूम-घूमकर ग्राम-ग्राम वे जाते,
और क्रांति-आदेश नये नित घर-घर में दे आते।
यह दुर्धर्ष किन्तु लघु मानव छक्के रहा छुड़ाता,
बहुत व्यस्त संत्रस्त पुलिस थी नहीं पकड़ में आता।

एक दिवस फिर इसी वीर ने कुछ पर्चे बँटवाये,
"आकर पकड़े पुलिस मुझे कल अगर पकड़ वह पाये।
कल प्रयाग के चौक निकट घंटाघर के जाऊँगा,
पाँच बजे संध्या को अपना राष्ट्र-गान गाऊँगा।
इस दुःशासन के विरोध में अपना भाषण दूंगा,
काले क़ानूनों का लंघन बढ़कर आप करूँगा।"

सुबह पुलिस के अफसर उनके घर पर दौड़े आये,
अच्छा होगा अगर यहाँ पर उन्हें पकड़ हम पायें।
लौटे खाली हाथ इधर ये, उधर वीर घर आया,
किन्तु परिस्थिति बड़ी विषम थी था कुटुंब घबराया।
शास्त्री जी ने कहा कि घबराने की बात नहीं है,
नव प्रभात को देख भला स्थिर रहती रात कहीं है ?

ढली दुपहरी चर्चा ही में पहर तीसरा ग्राया,
कहा उन्होंने—"चलूँ, करूँ मैं ग्रब ग्रपना मनभाया।"
समझाया तो बहुत किन्तु माता ने एक न मानी,
ललिता जी भी चलीं साथ में बहुत-बहुत हठ ठानी।
थोड़ी दूर चले वे पैदल फिर ताँगे में बैठे,
कौन जान पाया था मन की, थे गहरे में पैठे।

घंटाघर के निकट चौक में था कोलाहल भारी,
बाल, वृद्ध क्या युवा? जुड़े ग्रा, ग्रनगिनती नर-नारी।
दाएँ-बाएँ ग्रागे-पीछे लगीं गाड़ियाँ ग्राने,
फ़ौजी ट्रक भी खड़े कि सैनिक थे संगीनें ताने।
दृढ़ कठोरता सभी मुखों पर सैनिक क्षोभ भरे थे,
नर-नारी-गण थे उत्साहित, बालक जोश भरे थे।
घड़ी बड़ी ही ग्राशंका की, सहसा सबने देखा,
बादल-दल को चीर चमकती ग्राती है [रवि-रेखा।
घंटाघर के ग्रागे ताँगा वीर-पुरुष का ग्राया,
'लालबहादुर की जय" का रव ग्रंतरिक्ष में छाया।
ताँगा रुका, उठे बोले वे—"वीरो ! बन्धन तोड़ो,
ग्रंग्रेज़ो ! तुम हटो यहाँ से, ज़ाग्रो, भारत छोड़ो।"
इतना कुछ ही कह पाये थे, बढ़ा पुलिस का घेरा,
बंदी गये बनाये, फिर से जमा जेल में डेरा।

जीवन तपने लगा जेल में ग्रमित यातना भोगीं,
बाहर भी क्या कम थीं ? जितनी नहीं नरक में होंगी।
किन्तु भाल पर कभी न देखी दुःख की दुर्बल रेखा,
जब देखा इस वीर-पुरुष को मुसकाते ही देखा।

नंगी संगीनें हों चाहे रहे तोप का गर्जन,
धीर पगों में किन्तु वीर के कभी न आया कंपन।
था रचनात्मक कार्य या कि थी कठिन गठन की उलझन,
सबको सुलझाते रहते थे संकट में हर्षित मन।

है महद् आश्चर्य कि कुल में रहा क़लम का कौशल,
शिक्षा, विद्वत्ता की धारा बहती आई निर्मल।
ये सब गुण तो थे ही उनमें मेधा के भी उज्ज्वल,
दुर्दमनीय भरा था उनमें पर कैसे हय-गय-बल।
आत्म-त्याग को दिव्य वीरता के साँचे में ढाला,
लघु सेनानी रहा विचक्षण सबसे नया निराला।

बन्दी जीवन से मिला, जीवन का वरदान,
औ' अगस्त की क्रांति से, युद्ध-कला का ज्ञान।
लाँघेगा लघु वीर यह, अब दुर्लंघ्य पहाड़,
देगा जय-ध्वज देश का, अरि-छाती पर गाड़।

५

राजपुरुष

विश्ववृक्ष यह ऊर्ध्वमूल है और अधः शाखाएँ,
है महान्, जिसकी शाश्वतता सहज, समझ कब पाएँ।
जो कि विषमतम विकट परिस्थिति में द्वन्द्वों की पुलकर,
रखते शाश्वत सत्य याद प्रतिकूल वायु में चलकर।
वे शरीर की लघुता को भी सहज लाँघ जाते हैं,
और महत्ता का किरीट निज शीश बाँध आते हैं।
द्रुतगामी मनुजों के दल से कुछ आगे बढ़ आना,
चलकर दुर्गम विषम पंथ पर ठीक लक्ष्य पा जाना।
अपने भीतर एक बड़ी उपलब्धि कहेंगे इसको,
किन्तु छोड़कर योगीश्वर को प्राप्त हुई यह किसको ?
योगीश्वर हो, स्थितप्रज्ञ हो है समान परिभाषा,
एक रूप है दोनों का ही दोनों की सम भाषा।
है तटस्थ निस्पृह; सद्‌गुण के बीज न फलहित बोता,
कर्म मानता क्रिया गुणों की गुण में लिप्त न होता।
सुख-दुःख जिसके लिए एक हैं जोकि आत्म में स्थित है,
स्वर्ण पिंड से जो प्रस्तर के ही समान विरहित है।

प्रिय-अप्रिय मानापमान को सम कर जिसने जाना,
निन्दा-स्तुति में, शत्रु-मित्र में भेद नहीं है माना।
जो अनन्य शुचि भक्तियोग से सेवा में तत्पर है,
गीता गाती स्पष्ट स्वरों में वह ही योगीश्वर है।
नहीं किसी की रही बपौती योगीश्वर बन जाना,
लक्ष्य-सिद्धियाँ जिसे सिद्ध हैं सिद्ध जायगा माना।

लालबहादुर ऐसे ही थे अपने युग के योगी,
आने वाले युग में उनकी किससे तुलना होगी!
वे गुदड़ी के लाल कि जिसका पानी दिव्य विमल था,
निकल पंक से खिला हुआ ज्यों अद्भुत श्वेत कमल था।
श्वेत कमल वे सत्य, कि जो जल के ऊपर लहराता,
सुरभि दानकर महाशून्य में जो जाकर मिल जाता।

लिया कुटी में जन्म और वे राजमहल तक आये,
किन्तु कभी भी नहीं किसी की माया में घिर पाये।
जनकराज ही देह धरे थे पर वे रहे विदेही,
किससे तुलना करें? सत्य यह, बस उन-से थे वे ही।

रहा कौन-सा पद ऊँचा जो नहीं उन्होंने पाया,
किन्तु किसी के लिए कभी मन कब उनका ललचाया?
मिला स्वयं जो लिया सहज ही नहीं किसी से माँगा,
बड़ी बात यह रही, बनाया स्वर्ण लिया यदि राँगा।

पाकर खोना खोकर पाना यह तो नियम अटल है,
किन्तु प्राप्य को स्वयं छोड़ना होता नहीं सरल है।

राम रहे वे जिन्हें न मद था यद्यपि प्रभुतागत थे,
प्रभुता पाकर रहे छोड़ते वे तो एक भरत थे।

याद करो ओ भारतवासी ! उनकी अद्भुत लीला,
मोह-दर्प का विषधर धरकर त्याग-मंत्र से कीला।
रहे विधायक महामात्य या ठाट-बाट कब भाया ?
उच्च विचारों से ही अपनी रहे सजाते काया।
गृहमंत्री होकर भी अपना घर था नहीं बनाया,
छोटे और पुराने घर का देते रहे किराया।
शीतलता के लिए नियम से कूलर नहीं लगाया,
जीवन भर ही चले धूप में, कभी-कभी थी छाया।
क्षणिक सुखों के लिए कभी भी आदत नहीं बिगाड़ी,
अपनायी हर्षित मन से यदि मिली काँट की बाड़ी।
पा प्रधान मंत्री का पद भी नहीं गर्व में आये,
निर्धनता का जीवन ही वे रहे सदा अपनाये।
मन से मंत्री रहे किन्तु था तन पर बोझ न लादा,
गाँधी टोपी, कुर्त्ता, धोती, पग पनही अति सादा।

यही अंत तक वेश रखा था छवि थी नई निराली,
परम्परा जो रही देश की वह ही थी प्रतिपाली।

सज-धज, ठाट-बाट के साधन कभी नहीं अपनाये,
शयनकक्ष तक में वे अपने नहीं नव्यता लाये।
वही पुरानी खाट मूंज की, मोटी एक चटाई,
नहीं दरी, कालीन, गलीचों की प्रदर्शनी भाई।
उन्हें देखकर विष्णु गुप्त चाणक्य याद हो आता,
जीवन भर चावल के पानी और कुटी से नाता।
उसी तरह का त्याग और उसके जैसा अनुशासन,
गले विजय के हार नये नित युद्धों के आमंत्रण।
सच तो यह है लालबहादुर के जीवन की समता,
कर सकता है कौन प्रशासक किसमें इतनी क्षमता ?
उच्च राज पद पर जा, रखते नित जनता से नाता,
पाकर भी अधिकार, क्षमा का भूषण रहा सुहाता।

गृहमंत्री थे उन्हीं दिनों की घटना एक निराली,
वैसी नहीं सुनी है अब तक, कहीं न देखी-भाली।
किसी प्रशासन के क्रम में दिन एक आगरा आये,
स्वागत की भारी तैयारी तोरण गये सजाये।
ठीक समय पर उनकी गाड़ी प्लेटफ़ार्म पर आई,
किन्तु भीड़ में लघु तन लेकर पड़े नहीं दिखलाई।
थोड़ा आगे निकल चले वे स्वागत-कर्त्ता पीछे,
घेरा टूटा, बढ़ा सिपाही करके नयन तिरीछे।
गरजा—"ठहरो, किधर चले हो, कुछ भी देख न पाये ?
इसी ट्रेन से आज हमारे मंत्री जी हैं आये।
उनका स्वागत हो लेने दो डल लेने दो माला,
फिर तुम चले काम पर जाना, जिसका पड़ा कसाला।"

रहा डाँटता इधर सिपाही, उधर भीड़ बढ़ आई,
मालाओं पर माला उनको जनता ने पहनाई।
हाल बुरा था बेचारे का उनके पास खड़ा था,
हाथ जोड़ता रहा; सामने पर हँसमुख मुखड़ा था।
बिना कहे ही बात हृदय की उसने उनकी जानी,
हर लेते चुपचाप आर्त की पीड़ा सच्चे दानी।
समझ समय पर अर्थ, व्यर्थ में मत कदर्थ को डाँटे,
आया यह दाक्षिण्य सदा ही दया-सिंधु के बाँटे।
लालबहादुर दया-सिंधु दु:ख देख नहीं सकते थे,
छोटे-से-छोटे नर पर भी बड़ा स्नेह रखते थे।

इन्हीं दिनों की एक और है अद्भुत सुंदर गाथा,
सुनकर ही जिसको झुक जायेगा श्रद्धा से माथा।
दौरे पर थे चले, मार्ग में दुर्घटना घट आई,
चले लिखाने रपट स्वयं ही, कार वहीं रुकवाई।
थाने पहुँचे किन्तु किसी ने दृष्टि न इन पर डाली,
(न्यायासन वालों की अब भी दिखती यही प्रणाली।)
कहा सिपाही से, बोला—"क्या दिखता तुम्हें नही है!
अपना काम छोड़कर कोई करता अन्य कहीं है?
अभी किसे अवकाश चलो तुम उस कोने में भाई!"
घंटे भर तक भी तो लेकिन हुई नहीं सुनवाई।
रहे सोचते इसकी भी तो होगी कुछ मजबूरी,
आकर अटका होगा कोई इसको काम ज़रूरी।
किन्तु ज़रूरी काम दिखाई दिया न होता पूरा,
पूछा—"थानेदार कहाँ है?" उसने इनको घूरा।

ग्रौर डाँटकर कहा कि, "उनसे कौन काम है ग्रटका,
जाग्रो बैठो एक तरफ़ चुप" सहसा लगा कि फटका।
ग्राया थानेदार स्वयं ही मंत्री जी को देखा,
हुई वंदना, इधर ग्रधर पर उभरी स्मिति की रेखा।
यह रेखा थी जिसे लाँघकर क्रोध न ग्रागे ग्राया,
नहीं क्षमा की सती जानकी की छाया छू पाया।

यही क्षमा थी सदा शील का मूल-मंत्र देती थी,
भक्ति-शांति के ग्रक्षयवट का महाबीज सेती थी।
क्षमा-शांति दोनों से मिलकर पूर्ण पुरुष बनता है,
जिसे चढ़ाती ग्रर्घ्य, पूजती जिसे सदा जनता है।
पूजित होता वही किसी को दोष नहीं जो देता,
ग्रौरों के ग्रपराध सदा ही ग्रपने ऊपर लेता।

ऐसे ही थे लालबहादुर, ग्रद्‌भुत निर्णय लेते,
करते थे ग्रपराध दूसरे दंड स्वयं को देते।
रेल-मंत्रि-पद पाकर जैसा साहस कर दिखलाया,
न्याय-दंड-दृष्टांत ग्रौर तो वैसा कहीं न पाया।

सन् छप्पन की बात रेल का दुर्घटना थी भारी,
हुए हताहत कहीं डेढ़ सौ से ऊपर नर-नारी।
बुरी खबर थी! किन्तु ख़बर तो नित्य नई ग्राती है,
सुनती जनता शोर मचाती ग्रौर भूल जाती है।
सबंधित कुछ लोग ग्रवश हो कुछ दिन रोते-गाते,
या फिर राजनीति-व्यवसायी बढ़कर लाभ उठाते।

कोलाहल सब काल-नदी में कल ही रुड़-मुड़ जाता,
बन जाता इतिहास वहीं व्यक्तित्व जहाँ जुड़ जाता।
शास्त्री जी ने सुनी ख़बर यह जब भीषण दुखदाई,
मर्माहत हो गए, रात भर उनको नींद न आई।
धड़-धड़ करती द्रुतगतिवाली रेलों का टकराना,
ज्वालामुखी स्फोट से भीषण भयद स्थिति हो जाना।
बार-बार आँखों के आगे दृश्य उभरते आते,
हाथ-पैर, धड़-शीश सामने हरदम आते-जाते।
आकुल क्रदन, असहायों की करुणा-आर्त पुकारें,
बार-बार दे रही चुनौतीं, रह-रहकर ललकारें।

तिमिर-जाल था छिन्न, अंततः भिन्न व्यवस्था आई,
तर्कजाल के बीच मीन निर्णय की पड़ी दिखाई।
"यह तो नहीं विकास, ह्रास जीवन का इसे पुकारो,
रखो विरोधाभास नित्य पद-भार शीश पर धारो।
त्याग-पत्र दे दिया, किया था आख़िर कड़ा इरादा,
देकर निज को दंड न्याय की रख ली फिर मर्यादा।

निर्मित था मर्यादा से ही उनका सारा जीवन,
इसके बल पर निर्भर था अनुशासन और प्रशासन,
कभी लिया वाणिज्य और उद्योगों का मन्त्रालय,
जुटे रहे दिन-रात रहे तन-मन से श्रम में ही लय।
कभी मिला संचार और परिवहन विभाग सँभाला,
कभी सुशासक बन स्वराष्ट्र को नव साँचे में ढाला।
वैज्ञानिक पटु-कार्य-रीति के वे प्रतीक थे पूरे,
कोई ऐसे लक्ष्य नहीं हैं छोड़े जो कि अधूरे।

मिलता जो दायित्व उसे वे निष्ठा साथ निभाते,
अद्भुत कार्य-क्षमता से वे सभी सिंधु तर जाते।
नौकरशाही के अभिमानों की दुर्गम दीवार,
दाँव-पेंच विधि-नियमों की भी वे तीखी तलवारें।
सबको करके व्यर्थ, शब्द को नया अर्थ दे डाला,
किये अनेक सुधार, देश का नया काव्य लिख डाला।
अपनी ही शैली में ढाला जो मंत्रालय पाया,
जो भी प्रश्न जटिलतम देखा उसको सरल बनाया।
कोई ऐसा नहीं विषय था जो उनसे रह जाये,
पूरे विवरण, सभी आँकड़े अंगुलियों पर आये।
संसद् में हो खड़े कड़े प्रश्नों के उत्तर देते,
इतने थे ये दक्ष पक्ष में सब विपक्ष कर लेते।
राजनीतिमय जीवन में जो कार्य-रीति अपनाई,
वही प्रशासन के कामों में देता रही दिखाई।
भाव समन्वय का कुछ ऐसा उनमें कड़ा प्रबल था,
कहीं नहीं गतिरोध सामने नहीं विरोधी-दल था।
जाने कितनी विकट समस्याएँ समक्ष थीं आई,
सभी बुद्धि-कौशल से अद्भुत मिल-जुलकर सुलझाई।
था विदेश-मुद्रा का संकट, झंझट थे भाषाई,
कभी समस्या काश्मीर से कभी असम से आई।
अभी एक आयोग कभी अभियोग दूसरा आता,
हज़रतबल का बाल कभी नेपाल आँख दिखलाता।
उठता था पंजाब कभी, केरल से आती आँधी,
दक्षिण से भाषा की झंझा, सबकी गति थी बाँधी।

यों तो था प्रत्येक रूप ही उनका साँचे-ढाला,
महामात्य का रूप किन्तु था सबसे नया निराला।
बागडोर जब थकित देश की पहले-पहल सँभाली,
जनता के आगे रख दी तब अपनी कार्य-प्रणाली।
"मेरे छोटे-से कंधों पर भार आज जो आया,
उसे निभाऊ, करूँ देश की सेवा भारत-जाया।
मुझको दी जो ज़िम्मेदारी पूरी तरह निभाऊँ।
मातृभूमि के ऋण को अपने देकर प्राण चुकाऊँ।
बड़ा यत्न यह होगा मेरा बढ़े मूल्य रुक जायें,
बेकारी हो दूर देश के सब दरिद्र कट जायें।
किन्तु बड़ी है बात देश की रक्षा की तैयारी,
इसमें ढील न आने दूँगा कुछ भी हो लाचारी।
चला देश की दिव्य एकता को मज़बूत बनाने,
होंगे इसके लिए सभी संभव उपाय अपनाने।"

उनका यह संकल्प उभरकर शीघ्र सामने आया,
जब दल की बैठक में अपना यह संदेश सुनाया—
"चीन-पाक के बारे में वह मेरी नीति रहेगी,
जो विवेक के साथ देश की जनता रीति गहेगी।
रोकूंगा वह चरण कभी यदि भूले से उठ जाए,
हो स्वदेश की हानि कि जिससे आँच मान पर आए।"

देश-विदेश सभी जगहों पर हुई लक्ष्य की चर्चा,
भारत की जनता तो करने लगी हृदय से अर्चा।

भुट्टो और अय्यूब खान ने कई बार दुहराया,
"अमन चाहते हैं हम चाहे गर अपना हमसाया।"
किन्तु पाक के लगे दीखने नित नापाक इरादे,
रहे चीन की तरह सदा ही उसके झूठे वादे।
शास्त्री जी ने दिव्य दृष्टि से छल-प्रपंच पहचाना,
कूट-कपट की झूठ चाल को कूटनीति से जाना।
पाक-प्रशासक के सब भाषण जाँचे, परखे, तोले,
लाल क़िले की प्राचीरों से पुण्य-पर्व पर बोले—
"भारतवासी यही चाहते सदा शांति अपनाएँ,
बातचीत के द्वारा सारे झगड़े तय हो जाएँ।
गौरव औ सम्मान देश का रहे आँच मत आए,
सब देशों के साथ प्यार का ही नाता बढ़ जाए।
लेकिन यदि धमकी से चाहे कोई हमें झुकाना,
तलवारों के बल पर अपना चाहे वैर चुकाना।
संभव है यह नहीं और आगे भी कभी न होगा,
निर्बाधित अधिकार भला किस युग में किसने भोगा ?
हमें सामना करना आता बल का पूरे बल से,
उत्तर देंगे सभी कहीं से, नभ से, जल से, थल से।
घिरने वाली हैं भविष्य में अति घनघोर घटाएँ,"
बोले आती देख सभी आगत की वे विपदाएँ—
"अधिक ख़र्च मत करो, हमें है अपना ख़र्च घटाना,
मुट्ठी-मुट्ठी करके होगा अपना अन्न बचाना।
अगर तुम्हारा भाई भूखा होगा उसे खिलाना,
घबराकर हम अगर भरें घर संभव न्याय न पाना।
बढ़े हुए मूल्यों पर करना हमें नियंत्रण होगा,
जीवित राष्ट्र वही जिसने अनुशासित जीवन भोगा।

सुनो कृषक-औद्योगिक भाई, अधिक अन्न उपजाओ,
बढ़े देश का उत्पादन, सब उद्यम में जुट जाओ।
अगर चाहते देश हमारा बढ़े और भी आगे,
मिल-जुलकर सुलझाओ उलझे प्रीति-धार के धागे।
जहाँ एकता रही देश वह ही सुख से सोता है,
अनुशासन के बिन भविष्य भी कब उज्ज्वल होता है?"

रहा सोचता देश उन्होंने जो आदेश दिया था,
उधर पाक ने और सोचने को मजबूर किया था।
साँठ-गाँठ कर रहा चीन से नित षड्यंत्र नये थे,
घोंपेगा यह छुरा पीठ में सब ही ताड़ गये थे।

ऐसी विषम परिस्थिति में तो यह था बहुत ज़रूरी,
सभी राष्ट्र हों अपने साथी मिट जाए सब दूरी।
एक मात्र था मार्ग विदेशों से सम्बन्ध बढ़ाएँ,
भेजें दूत कहीं पर अपने कहीं आप ही जाएँ।
करके यह संकल्प सुजनता से सम्पर्क बढ़ेगा,
मिलकर ही सौजन्य दिनों दिन दूना और बढ़ेगा।
करने लगे विदेशों की फिर राजकीय यात्राएँ,
बढ़ने लगीं मधुर मैत्री की दिन-प्रति दिन मात्राएँ।
अरब देश, युगोस्लाविया, रूस, नेपाल औ लंदन,
गए कनाडा बाँधे सबसे दृढ़ मैत्री के बंधन।

जहाँ-जहाँ भी गए वहीं पर भारी आदर पाया,
सभी कहीं पर स्वागत के हित स्वर्ग धरा पर आया।

था सौभाग्य सभी ने माना, उर सब उमड़ बहे थे,
ऐसा था व्यक्तित्व सभी ने श्रद्धा-वचन कहे थे—
"शास्त्री जी तो हैं गुलाब की पंखुड़ियों से कोमल,
किन्तु अधिक मज़बूत लौह-सा है इनका अंतस्तल।"

घूम-घूमकर देश-देश में सबको यह समझाया,
"कोई अपना शत्रु नहीं है, कोई नहीं पराया।
विश्व-शांति उपदेश हमारा, नहीं चाहते लड़ना,
कभी नहीं सीखा है हमने तुच्छ बात पर अड़ना।
किन्तु करे कोई हठधर्मी, युद्ध करे, ललकारे,
खेल नहीं देखेंगे तब हम होकर खड़े किनारे।
अच्छा है संकट में सारे राष्ट्र साथ में बोलें,
पक्ष हमारा पूर्ण रूप से न्याय-तुला पर तोलें।"

घूम रहे थे इधर देश के हित में यों सेनानी,
और उधर सीमा पर करते पाक-चीन शैतानी।
कोई भी तो समय न ऐसा जब न समर-ललकारें,
अतिक्रमण था सीमाओं का, तोपों की थी मारें।
घुसे कच्छ में मगरमच्छ-से अनगिन पाक-लुटेरे,
लाठीटीला, डूमाबाड़ी को हरदम थे घेरे।

शास्त्री जी थे इधर लौटकर अभी देश में आये
उधर पाक-सेनाएँ अपना बढ़ीं जाल फैलाये।
लेकर कंजरकोट, दूर तक सीमा में घुस आईं,
ले लीं भारत की दो चौकी आँखें और गड़ाईं।

जनता में था शोर देश का शौर्य आज है हारा,
संसद् में भी प्रतिपक्षी ने बार-बार ललकारा।
किन्तु हमारे इस नेता ने धीरज तनिक न छोड़ा,
संकट में संबंध शांति से शांतमना हो जोड़ा।
हुए कच्छ समझौते पर फिर किसी तरह हस्ताक्षर,
चले पुनः शास्त्री जी अपनी मधु-मैत्री-यात्रा पर।
लौटे, देखा महादेश में संकट-घन घिर आए,
अनगिन पाक-लुटेरे चुप-चुप काश्मीर घुस आए।
समाचार था बुरा और यह घटना नहीं भली थी,
पाकिस्तानी छलिया ने फिर कुटिला चाल चली थी।
किन्तु लड़ाके वीर हमारे पूर्ण सतर्क खड़े थे,
मारे अनगिन घुसपैठे चुन कुछ तो धर पकड़े थे।

बात साफ़ थी नहीं पाक का कोई भाव भला है,
भारत से खुलकर लड़ने को उसका मन मचला है।

लालबहादुर जी ने उसके भाव भली विधि तोले,
अपने एक प्रसारण में वे जमकर कुछ यों बोले—
"देखो, हुआ देश पर अपने अब सशस्त्र हमला है,
पर्दा उस पर पड़ा हुआ जो बहुत-बहुत पतला है।
उसी रूप में होगा उसका हमें सामना करना,
सोच-समझकर होगा वीरो! समर-सिंधु को तरना।
किसी हमारे भूमि-भाग को चाहे वह हथियाना,
बल-प्रयोग से चाहे हमको पाकिस्तान झुकाना।
समझ रखे बस तब तो है वह बहुत बड़े धोखे में,
भला रखेगा कौन गगन को धर समेट गोखे में!

मंसूबों में सफल न होगा, लाभ न होगा छल से,
बल का उत्तर देंगे हम भी उसको पूरे बल से।"

राष्ट्रध्वजा की छाया नीचे किया राष्ट्र का वन्दन,
दो दिन बाद किया फिर जाकर लाल क़िले में गर्जन—
"है कितना आश्चर्य, शांति का हम तो पथ अपनाते,
मेल-मित्रता, प्यार-मुहब्बत का है हाथ बढ़ाते।
उसके बदले हम पर होते पाकिस्तानी हमले,
ऐसे में कोई फिर कैसे भला कहो तो दम ले!
प्रश्न यही है इस स्थिति में फिर हमको क्या है करना?
पथ अपना है स्पष्ट हमें भी पग आगे है धरना!
बातचीत के लिए शत्रु जब कोई ठौर न छोड़े,
यही उचित है डटे सामने पथ में आयें रोड़े।
हमने कितना चाहा अब तक शांति बनाये रखना,
किन्तु उसे तो शेष रहा है भुजबल अभी परखना।
लेकिन जाए इसी तरह से जब छल-बल से भोगा?
एक सुशासन के नाते फिर अपना पग क्या होगा?
बात बड़ी है साफ़ साँस सुख की हम कैसे लेंगे?
हथियारों का उत्तर हम भी हथियारों से देंगे।"

था कुटिया के लाल का, राजपुरुष का रूप!
चन्द्र-प्रभा थी छिप चली, लगी विकसने धूप!
बलि-वामन का ब्यौंत था, फिर से यह बेजोड़,
राजनीति लेने चली, समर-नीति से होड़।

६

युद्ध-विजेता

अनुनय-विनय कभी सुनता है कहीं आसुरी बल भी ?
बुझ पाया है कभी स्नेह से बढ़ता दावानल भी ?
जड़मति को हों जहाँ सूझतीं छल-प्रपंच की घातें,
कहाँ सुनेगा मूढ़मना वह प्रेम-शांति की बातें ?
कई दिवस तक खड़े रहे थे रघुवर सिन्धु किनारे,
रहे प्रार्थना करते—"सागर हमको पार उतारे।"
किन्तु दुष्ट ने नहीं सुने थे दुष्ट-निकन्दन के स्वर,
झुका अन्त को बेध गए तन जब उनके तीखे शर।
इसी तरह था पाकिस्तानी शासन को समझाया,
किन्तु समझ में एक शब्द भी उसके तनिक न आया।
छेड़छाड़ तो नित्य नई थी, बढ़ती खींचातानी,
सीमाओं का अतिक्रमण कर करता था मनमानी।
काश्मीर को लेने का था उसका साहस दूना,
किन्तु सरल था नहीं पावनी भरतभूमि को छूना।
सदा जन्म देती ही आई अवसर पर युग-चेता,
बने अंततः लालबहादुर नये युद्ध के नेता।

जनता को स्थिति की गहनता भली तरह समझाई,
"उठो, छोड़ आराम, काम में जुटना होगा भाई।
आज त्याग, बलिदान और क़ुर्बानी का दिन आया,
अपना लो वह पंथ कि जिसको जो भी है मनभाया।
प्रभु को साक्षी करके सारे यह सच्चा प्रण लेंगे,
काश्मीर की एक इंच भी भूमि नहीं हम देंगे।
जिस झंडे के नीचे वीरो! मिलकर आज खड़े हैं,
उसकी रक्षा-हेतु सदा ही अरि से जूझ पड़े हैं।
आज प्रश्न फिर इसकी रक्षा का समक्ष है आया,
छेड़छाड़ कर रहा व्यर्थ ही है हमसे हमसाया।
कह दो उसको कोटि शीश से कितना मूल्य चुकेगा!
किसी मूल्य पर किन्तु राष्ट्र का झंडा नहीं झुकेगा!"

नित्य विदेशी पत्रकार आकर कुछ पूछ रहे थे,
लघु अनबूझ पहेली को वे रह-रह बूझ रहे थे।
लघुतम कायावाले नर का नाहर-सा था गर्जन—
"हमला जारी रखा पाक ने और न माना वर्जन।
भारत अपनी नहीं सुरक्षा भर से ही चुप होगा,
बल्कि शत्रु पर वार जवाबी शीघ्र प्रबलतम होगा।"

दो दिन बीत नहीं पाए थे भेद खुल गया भारी,
पाकिस्तानी सेना की थी बहुत बड़ी तैयारी।
पैटन टैंक और ले बख़्तरबंद गाड़ियाँ अनगिन,
छम्ब क्षेत्र में घुस आई थी कर सीमा उल्लंघन।
किन्तु हमारे वीर-विमानों ने घरकर ललकारा,
नष्ट किए सब टैंक, गाड़ियाँ, सेना को संहारा।

नहीं कहीं संदेह रहा था बात सामने आई,
पाकिस्तानी तौर यही थे जमकर करे लड़ाई।
सैबर जेट लड़ाकू ऊपर, पैटन टैंक धरा पर,
खुलकर था उपयोग सभी का भारत की छाती पर।
भारत के सैनिक भी जमकर जौहर दिखा रहे थे,
छोटे नैट बड़े सैबर के छक्के छुड़ा रहे थे।
भारत माँ के वीर सिपाही दिखा रहे थे पानी,
और इधर उत्साह नया ही भरता था सेनानी!
अरि दल की आती थी जितनी होकर तीखी गोली,
उतनी ही निज भैरव स्वर में फूट रही थी बोली—

क़दम बढ़ेंगे नहीं रुकेंगे, दुश्मन ने ललकारा है,
हमको अपनी धरती प्यारी भारत देश हमारा है।
देश-भक्ति की दीप-शिखा के हम दीवाने परवाने,
बलि-पथ के मतवाले राही, चलते हैं सीना ताने।
तन देंगे, धन देंगे, इसपर प्राण निछावर कर देंगे,
काली रणचंडी का खप्पर अरि-शोणित से भर देंगे।
तन की हर हड्डी चमकेगी मानो तेज़ दुधारा है,
क़दम बढ़ेंगे, नहीं रुकेंगे, दुश्मन ने ललकारा है।
जगो देश की प्यारी बहनो, जगो देश की माताओ,
वीर-पत्नियो, उठो कि रण के सब सामान सजा लाओ।
बहे हमारा अगर पसीना शस्त्रों की तैयारी हो,
एक खून की बूंद हमारी, सौ दुश्मन पर भारी हो।
वीर-सैनिको, उठो कि तुमको माँ ने आज पुकारा है,
क़दम बढ़ेंगे नहीं रुकेंगे, दुश्मन ने ललकारा है।

वह कैसे सोएगा सुख से, जिसका दुश्मन जीता है?
जागो, उठो, शत्रु को मारो, कहती अपनी गीता है।
साँसों में तूफ़ान बसा है, बोली में पलती आँधी,
हमने तो अपने पैरों में, महाप्रलय की गति बाँधी।
'मरो देश के लिए सपूतो' यही हमारा नारा है,
क़दम बढ़ेंगे, नहीं रुकेंगे, दुश्मन ने ललकारा है।
हमको अपनी धरती प्यारी, भारत देश हमारा है।

क़दम बढ़ाया सचमुच आगे अरि को मार भगाया,
हाहाकार मचा कुछ ऐसा जगभर था थर्राया।
भारत की यह महावीरता फैल गई जग भर में।
'शांति-शांति' की आवाज़ें थीं उभरी धीमे स्वर में।

ऊथाँ कहने लगे शांति ही सबसे उत्तम होती,
भारत बोला—"किन्तु कायरों की अधमाधम होती।
कायर तो हम नहीं कि सोचें शांति-सन्धि की बातें!
फिर, इसका भी कौन भरोसा पाक छोड़ दे घातें।"
लालबहादुर जी ने सोचा स्थिति पर गहराई से,
व्यर्थ चाहता भला कौन है लड़ना निज भाई से?
उनके आगे विगत कच्छ की बातें सारी आईं,
मन में मंथन चला घटाएँ शंका की घिर छाईं।
देख रहे थे, शत्रु शांति को कायरता है कहता,
भरतभूमि को कुचल डालने के सपनों में रहता।
देश युद्ध के परिणामों से भी अनजान नहीं था,
किन्तु दाँव पर लगे प्रतिष्ठा इसमें मान नहीं था।

अंतिम निर्णय लिया और फिर हाथ उठाकर बोले—
"शस्त्र उठाओ, बढ़े चलो तुम अपना भुजबल तोले,
उठो देश के वीर सपूतो, उठो वीर सेनानी,
भूमि युद्ध की माँग रही है तलवारों का पानी।
यह कैसा आराम कि जिसमें पड़े बाद में रोना,
उठो कि लोहा लो दुश्मन से जगो त्याग दो सोना !
खेतो में हल चले रात-दिन, दूना अन्न उगाओ,
हर भट्टी में शस्त्र ढालने को ज्वाला धधकाओ !
देश-भक्ति की नये सिरे से गढ़ लो नई कहानी,
उठो देश के वीर सपूतो, उठो वीर सेनानी।
उठो, तुम्हें सौगंध देश की, अपना देश न भूलो,
जगो तुम्हें सौगंध वेश की अपना वेश न भूलो।
तुम्हें क़सम है परिवारों की समझो उनकी भाषा,
अपने पहरेदारों को भी है तुमसे ही आशा।
भूलो मत भूगोल, न भूलो वह तारीख पुरानी,
भूमि युद्ध की माँग रही है तलवारों का पानी।
करो कि अपने प्रण की रक्षा देकर हर क़ुर्बानी
उठो देश के वीर सपूतो, उठो वीर सेनानी !"

प्रेरक वाणी सुनी, देश जैसे झटके से जागा,
बिखरी लड़ियाँ लगा जोड़ने एक ध्येय का धागा।
जन-जन की रग-रग में जैसे ज्वाला धधक रही थी,
मर मिटने के लिए देश पर छाती ललक रही थी।
हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई सारे भेद मिटाकर,
चले राष्ट्र की विजय मनाते अपने स्कंध सटाकर।

जहाँ-जहाँ भी काश्मीर के लिए युद्ध होता था,
वहीं पिछड़ता, सैन्य-शक्ति से पाक हाथ धोता था।
उड़ी, पुंछ, टिथवाल, छम्ब में अपना ऊँचा माथा,
हाजी पीर कहेगा युग-युग अपनी गौरव गाथा।

पाकिस्तान चला था लेकर बड़े-बड़े मंसूबे,
लेकिन इच्छोगिल के जल में रह-रहकर सब डूबे।
खेमकरन का खोल मोर्चा अमृतसर को घेरे,
ग्रांड ट्रंक की खुली सड़क से दिल्ली डाले डेरे।
लेकर सैवर जैट किया था अमृतसर पर हमला,
विकट घड़ी थी हुआ इकट्ठा दिल्ली का सब अमला।
निज दल के क्या सभी विरोधी दल के लोग बुलाए,
शास्त्री जी ने करी मंत्रणा सब ही सहमत पाए।
रक्षा मंत्री, स्थल सेनापति, राजनयिक अधिकारी,
मानचित्र ले आए जिससे प्रकट चाल थी सारी।
पाकिस्तानी सेनाओं की चालें थीं अति भारी,
उन्हें ध्वस्त कर देने की थी क्या अपनी तैयारी।
सब कुछ समझा, अपने अरि के, सबके भुजबल तोले,
परिणामों को जान-परखकर गर्जित स्वर में बोले—
"भला इसी में है कि आग से पाकिस्तान न खेले,
बढ़े हुए जो क़दम उन्हे वह फ़ौरन वापिस ले ले।
किन्तु उसे यदि लड़ने का हो भाता चाव घना है,
तो हमने भी समरानल में ही सीखा तपना है।
हमें चुनौती है उसको स्वीकार सामने आये,
मातृ-भूमि के लिए खड़े हैं, हम भी शीश सजाये।

सेनापतियो! बढ़ो, युद्ध की तुम धधका दो ज्वाला,
खड़ी कालिका माँग रही है अरि-मुण्डों की माला।
गांधी का यह देश न समझे हममें जगी जिघिंसा,
हिंसक की हत्या से कलुषित होती नहीं अहिंसा।
अपनी रक्षा के हित में यदि कहीं हाथ उठता है,
कहो कि इसमें देवि अहिंसा का क्या कुछ घटता है?
पारावत-से आँख मूँदकर, बैठे ध्यान लगाए,
दुश्मन बन-विलाव-सा आकर हमें लील ही जाए।
यह तो नहीं अहिंसा होगी, होगी यह कायरता,
कायर बनकर जिएँ धरा पर ओढ़े हम पामरता?
नहीं-नहीं यह कभी न होगा, यह कलंक क्यों लेंगे?
अपने चरित-महानाटक को स्वर्ण-अंक ही देंगे!"
शंखध्वनि-सी रही गूंजती वाणी शत्रु कँपाती,
दिशा-दिशा में उमड़ पड़ी फिर स्वर-लहरी बलखाती।

उठ जवान, चल जवान, बढ़ जवान रे!
दुश्मनों की गर्दनों को तू मरोड़ दे!
वीर! तीर हाथ में चढ़ी कमान है,
देवराज इन्द्र के कि तू समान है।
सामने खड़े हुए कि जो पहाड़ हैं—
वे नहीं विशाल किन्तु तू महान् है।
महानता में एक पृष्ठ और जोड़ दे!
दुश्मनों की गर्दनों को तू मरोड़ दे!
शत्रु की कुचाल को कि वीर! टाल तू!
सिंह-माँद में कि आप हाथ डाल तू!

चल पहाड़ लाँघता विशाल खाइयाँ—
चल कि गेंद के समान भू उछाल तू !
सिन्धु-ज्वार से सदा कि वीर ! होड़ ले !
दुश्मनों की गर्दनों को तू मरोड़ दे !
आन बान मान का जिसे विचार है !
जय उसे मिली सदा, टिकी न हार है !
पग बढ़ा रुका नहीं न शीश है झुका—
ज्वाल-माल से जिसे रहा दुलार है !!
काल की कराल चाल क्यों न मोड़ दे !
उठ जवान, चल जवान, बढ़ जवान रे !
दुश्मनों की गर्दनों को तू मरोड़ दे !

अपने सैनिक दिखा रहे थे युद्ध-भूमि में साका,
बढ़ते जाते सत्य-न्याय की लेकर दिव्य पताका।
सभी दिशाओं में सीमा को करते पार चले थे,
पहुंचेंगे लाहौर इसी के लिए वीर मचले थे।
था कसूर पर कड़ा मोर्चा उसको ध्वस्त किया था,
जो था बख्तरबंद डिवीज़न चकनाचूर किया था।
चले रौंदते शत्रु-पक्ष को प्रलयानल-से जागे,
भिन्न दिशाओं में वे बढ़ते चले गए थे आगे।
गिन-गिन अरि के वायुयान के अनगिन अड्डे तोड़े,
तोड़े दैत्याकार टैंक थे तोपों के मुँह मोड़े।
पैटन टैंकों का तो अद्भुत क़ब्रिस्तान बनाया,
देख शौर्य अब्दुल हमीद का था देवेन्द्र लजाया।
किस-किस महावीर की कह दो लिखें लेखनी गाथा,
युग-युग जिनके पग पर होगा श्रद्धा से नत माथा !

स्थल सेना बढ़ रही सामने गगन नैट मँडराते,
बढ़ते जाते वीर शत्रु को पीछे गए हटाते।
वर्की के थाने पर जाकर झंडा था लहराया,
चार कोस लाहौर शेष था दुश्मन था थर्राया।

थर्राया था, होश नहीं थे उसके रहे ठिकाने,
समझे-बूझे बिना लगा बम यत्र-तत्र बरसाने।
इतना अंधा हुआ कि उसने अस्पताल तक तोड़े,
खेतों, गिरजाघरों, मस्जिदों पर भारी बम छोड़े।
साहस का यह नहीं क्रूरता का प्रमाण था भारी,
चला जीतने था जो बाज़ी अपने हाथों हारी।
बर्बरता को देख आसुरी शक्ति बहुत शरमाई,
भारत का अन्याय बताकर देने लगा दुहाई।

एक ओर तो ऊ थाँ आए शान्ति हेतु थे आगे,
और दूसरी ओर चीन के दुष्ट भाव थे जागे।
भारत को आतंकित करता गढ़ने लगा बहाने,
"तिब्बत में सैनिक महत्त्व के निर्मित नये ठिकाने।
भारत तीन दिनों में उनसे पीछे नहीं हटेगा,
चीन विवशता की स्थिति में फिर नूतन युद्ध रचेगा।"

नई चुनौती पाक-सैनिकों के हित में थी सम्बल,
साथ-साथ सिक्किम-लदाख की सीमा पर थी हलचल।

सोचा उसने संभवतः भारत इससे डर जाए,
और शीघ्र ही चले पाक से समझौते पर आए।

किन्तु भूल थी बड़ी चीन की कौन यहाँ घबराता,
शास्त्री जी चट्टान बने थे उनको कौन डिगाता ?
कहा उन्होंने—"“यदि तिब्बत में दीखे कहीं ठिकाने,
स्वयं चीन ही उन्हें हटा ले व्यर्थ रार मत ठाने।
किंतु ध्यान में रखे बात यदि हम पर हमला होगा,
पूरी ताक़त से फिर उसका डट मुक़ाबला होगा।"

देखा, भारत किसी तरह से कहीं नहीं झुकता है,
और मनोबल बढ़ता जाता तनिक नहीं चुकता है।

पाकिस्तानी तानाशाही बहुत बहुत घबराए,
भारत पर फिर सभी ओर से भार गये डलवाए।

हुआ अन्ततः अन्त युद्ध का, भारत बना विजेता
लालबहादुर चमके बनकर वीर युद्ध के नेता।

हुई पराजय पाकिस्तानी थे इससे झुँझलाए,
'खीझी बिल्ली खम्भा नोचे' उक्ति रहे अपनाए।
युद्ध-विरामादिक नित तोड़े कर सीमा उल्लंघन,
नित प्रति जारी रखी पाक ने वही पुरानी अनबन।
समर समाप्त हुआ था लेकिन फिर भी थी बेचैनी,
पाक-चीन की गड़ी हुई थी दृष्टि अभी तक पैनी।

पिछला अनुभव बता रहा था किसका करें भरोसा,
किसी समय भी जा सकता है युद्ध पूर्ववत् ठोंसा।

ऐसी स्थिति में भारत के हित में था यही ज़रूरी,
बनी आंतरिक रहे एकता, मिटे दिलों की दूरी।
किसी समय भी अगर युद्ध के फिर बादल घिर आएँ,
बढ़ें हमारे वीर विजेता, उठें बनें झंझाएँ।
शास्त्री जी ने दिव्य दृष्टि निज फिर भविष्य पर डाली,
चोर-लुटेरों से उपवन की करनी है रखवाली।
रखवाली के हेतु हमारी रक्षा-शक्ति बढ़ेगी,
बढ़े अगर खाद्यान्न शौर्य पर दूनी शान चढ़ेगी।
रक्षा-शक्ति रहेगी दृढ़तर जय जवान की होगी,
खाद्य-मोर्चा प्रबल रहेगा जय किसान की होगी।
और गहन हो चली विचारों की जब अन्तर्धारा,
दिया देश को समय देखकर एक नया ही नारा।

'जय जवान जय किसान' दिव्य ध्येय है,
गान है यही भला अपूर्व गेय है।
है सदैव जीत ने विनीत हो वरा,
मृत्यु सालती जिन्हें न व्यापती जरा,
वीर भोगते रहे वही वसुंधरा,
मूल्य है जवान का इसीलिए बड़ा—
शुद्ध ज्ञान है यही प्रबुद्ध ज्ञेय है,
'जय जवान जय किसान' दिव्य ध्येय है।
जो सदैव माँजते धनुष्यकोटियाँ,
लाँघते वही सदा नगेश चोटियाँ,
हाथ में किए रहे सदैव गोटियाँ,
खेल में उन्हें कभी मिली न हार है—
श्रेय शेष है यही विशेष प्रेय है।

गान है यही भला अपूर्व गेय है।
'जय जवान जय किसान' दिव्य ध्येय है।

देह का अशेष रूप, जो कि प्राण है,
दे रहा हमें विशेष शस्य धान है,
वह किसान, देश के लिए महान् है,

क्षेत्र या कि खेत में रहे बढ़े-चढ़े—
हिंद देश तो सदैव ही अजेय है!
गान है यही भला अपूर्व गेय है!
'जय जवान जय किसान' दिव्य ध्येय है!

वे अग्रिम चौकी पर जाते नित उत्साह बढ़ाते,
वीर नायकों की सेना को दिव्य रूप दिखलाते।
जहाँ कहीं भी जाते थे वे नई स्फूर्ति आ जाती,
वीर सैनिकों की हो जाती थी गज भर की छाती।

चलचित्रों के बीच रूप लघु देख जो कि मुसकाते,
करतल ध्वनि करते अब रह-रह वे ही नहीं अघाते।

सिद्ध किया था यही उन्होंने कर्म बहुत बढ़कर है,
है सौंदर्य, पराक्रम, पूजा कर्म स्वयं ईश्वर है।
और युद्ध? वह भी तो निश्चय एक कर्म कहलाता,
किंतु राजसी कर्म, इसीसे है तामस बन जाता।
एक छोर पर शौर्य दूसरे पर बर्बरता रहती,
युद्ध-कर्म तो एक आग है सदा सभी को दहती।

युद्ध-कर्म तो सदा रहा है दानवता की थाती,
है विरुद्ध देवत्व-भाव के मानवता घबराती।
युद्ध-कर्म तो द्वेष, ईर्ष्या और घृणामय छल है,
पशुता का प्रतिरूप भयंकर, प्रतिरोधी पशुबल है।
है महान् सत्कर्म एक ही शांति जिसे कहते हैं,
अनुचर जिसके न्याय, दया, सौहार्द, प्रेम रहते हैं।
कर्म मात्र है युद्ध, शांति पर कर्म धर्म कहलाती,
इसीलिए तो बाद कर्म के सबको शांति सुहाती।
शांति रही है सदा-सदा ही सुख-समृद्धि का साधन,
नही युद्ध से, शांति-धर्म से होता लोकाराधन।

यही सोचकर युद्ध-विजेता चला शांति अपनाने,
दानवता को मानवता का सुन्दर पाठ पढ़ाने।

शांति वार्ता हेतु यत्न में लगे हुए कोसीगन,
लालबहादुर औ अयूब को देते रहे निमत्रण।
दोनों ने स्वीकार किया था खुलकर कर लें बातें,
मन के निर्मल हुए बिना तो नहीं छुटेंगी घातें।

दोनों ने वार्ता-यात्रा की कर ली थी तैयारी,
किन्तु पाक के शासक की भी शर्त बनी लाचारी।
"बातचीत में मुख्य विषय तो काश्मीर ही होगा,
हेतु उसी के बार-बार है युद्धों का फल भोगा।"

"शर्त व्यर्थ है !" प्रश्न पुराना उत्तर में था गर्जन,
"है काश्मीर हमारा उसका कौन करेगा अर्जन ?

भारत का वह तो अटूट है अंग, नहीं टूटेगा.
यह केसरिया बाना जिसका रंग नहीं छूटेगा।
काश्मीर को केन्द्र बनाकर समझौते की बातें!
नहीं शांति-प्रस्ताव यही हैं बन-बिलाव की घातें।
काश्मीर लोहे का टुकड़ा काटे नहीं कटेगा,
भारत अपनी जगह खड़ा है पीछे नहीं हटेगा।"
यह तो थी फुंकार काटना जिसका ध्येय नहीं था,
केवल था अस्तित्व जताना, लड़ना प्रेय नहीं था।
कोसीगन को लिखा—"महोदय ताशकंद आऊँगा,
विश्वशांति हो सके तभी मैं मन:शांति पाऊँगा।"

मन प्रचंड पवि इन्द्र का, तन तकली का सूत,
युद्ध-विजेता दीखता, किन्तु शांति का दूत।
सरि शोणित या सलिल की, करी तैर कर पार,
युद्ध-चुनौती, शांति-पथ, दोनों थे स्वीकार।

७

शान्ति-पुरोधा

'अहा ! आज कैसी है अद्भुत यह अपूर्व-सी हलचल,
खगकुल का कल-कल रव नूतन जन-मन का कोलाहल।
बढ़ता जाता नया रूप धर हर्षित अपना आँगन,
लगता है अपनी धरणी पर उग आया सुर-उपवन।
यह प्रस्तर का देश वेश नूतन धर कर ज्यों आया,
हर प्रस्तर ज्यों बोल रहा है, रोमांचित है काया।
यह फूलों का देश आज कुछ है विशेष ही फूला,
कलियाँ अपने भ्रमर-अतिथि को झुला रही हैं झूला।"
एक व्यक्ति ने कहा, अपर जन बोला औ मुसकाया,
"भ्रमर-अतिथि! क्या कहा? सत्यही आज अतिथि है आया।
प्रस्तर जैसा मन है उसका और कुसुम-सी काया,
ताशकंद ज्यों देह धरे है या उसकी ही छाया।
लौह-व्रती कहते हैं उसको, है संकल्पों का स्वर,
ज्वालामुखी हिमाच्छादित वह है मोमायित प्रस्तर।
शीतल-रक्त शिराओं में वह विद्युत् भरने वाला,
द्रवी भूत कर तेज सलिल में उसे बदलने वाला।

झंझाएँ यदि उठें समर की अस्त-व्यस्त कर देता,
गर्जित गर्व तिमिर का रविकर बना ध्वस्त कर देता।
कहते हैं उसने स्वदेश को जीवित कर्म दिया है,
और विनय को सुदृढ़ वज्र का भासित वर्म दिया है।
उसको पाकर उसका भारत आगे सदा बढ़ा है,
है वामन अवतार विष्णु का गौरव-गरुड़ चढ़ा है।
आया अपने ताशकंद में रण का विजयी-योद्धा,
शांति-यज्ञ के लिए यहाँ बन आया शांति-पुरोधा।"

इसी भाँति से ताशकंद में मुखरित जन के स्वर थे,
शांति-वार्ता हेतु वहाँ पर पहुँचे शास्त्रिप्रवर थे।
पहुँचे श्री अय्यूब खूब ही मिले भरे भावों से,
मुख पर था उल्लास बरसता नये-नये चावों से।
था अपूर्व स्वागत अभ्यागत को ले फूल रहे थे
आतिथेय मिल गले अतिथि के सुध-बुध भूल रहे थे।
मुखरित नव उल्लास भरा था ताशकंद का जन-मन,
थे प्रफुल्ल अति भीतर-बाहर सर्वाधिक कोसीगन।
किया गया स्वीकार अन्ततः उनका मधुर निमंत्रण,
दो देशों के बीच संधि का था उनका आयोजन।
घोर तमस के बीच उन्हीं की फैली उजियारी थी,
राजनयिक क्षेत्रों में उनकी जीत बहुत भारी थी।

स्वस्थ 'तटस्थ विला' में जाकर लालबहादुर ठहरे,
रहे डूबते-उतराते वे भाव-सिंधु में गहरे।
'देशवासियों को मैंने निज है विश्वास दिलाया,
माथा नहीं झुकेगा जैसे अब तक नहीं झुकाया।

काश्मीर पर भारत की प्रभुसत्ता बनी रहेगी,
सदा पूर्ववत् मान सहित निज गर्दन तनी रहेगी।
बातचीत वे काश्मीर पर कोई नहीं करेंगे।
किसी मूल्य पर बनी प्रतिष्ठा को पतवार धरेंगे।'

बातचीत फिर चली किन्तु गतिरोध अचानक आया,
कुछ ब्रिटेन की शह थी कुछ-कुछ पड़ा चीन का साया।
पाकिस्तान लगा हठधर्मी अपनी नित्य दिखाने,
सुलझ रही थी कठिन समस्या उसे लगा उलझाने।
प्रखर सूर्य की किरणों का भी केतु ताप कब माने,
आशा की उद्दीप्त शिखा को वह तो चला बुझाने।
ताशकंद बन गया अचानक विषम ताश की बाज़ी,
सात दिनों तक चली बड़ी ही भौंड़ी सौदेबाज़ी।
बार-बार अय्यूब खान को लगी एक ही रट थी,
काश्मीर की बनी पहेली अब अत्यंत विकट थी।
बातचीत जो चली टूटने के अत्यन्त निकट थी,
हुई पाक की नीति नग्न जो ओढ़े छद्म कु-पट थी।

नीति नग्न ही नहीं, भग्न थी कोसीगन की आशा,
लगे संधि-शर्तों की करने वे अद्भुत परिभाषा।
खुलने लगी पर्त-पर-पर्तें लिपटी सब चालों की,
तुलने लगी शक्ति नौका के मस्तूलों-पालों की।
डाला अपना भार नीति के नूतन पंथ दिखाये,
अपने, उनके, इनके, सबके वादे याद दिलाये।
और मित्रता भी अपनी थी राजनीति पर तोली,
बाँध रखी थी गाँठ अभी तक भय की वह भी खोली।

पिछले, अबके और भविष्यत् के सम्बन्ध दिखाते,
कोसीगन अत्यन्त व्यस्त थे भारत को समझाते।

लालबहादुर किन्तु डटे ही रहे वचन पर अपने,
कैसे करते छिन्न देश की आशाओं के सपने।
लग सोचने आये चाहे कितना दुर्बल मौक़ा,
डगमग कभी न होने दूँगा मैं भारत की नौका।
त्यागे तर्क वितर्क, कुतर्कित स्वर वर्जित कर बोले—
"नहीं झुकूँगा भय के आगे जो होना है हो ले।
नहीं-नहीं कोसीगन! मुझसे यह तो कभी न होगा,
भय के आगे झुक जाने को नहीं कष्ट था भोगा।
यदि ऐसी थी शर्त व्यर्थ ही मुझको यहाँ बुलाया,
है आश्चर्य! आपने कैसे मूल प्रश्न ठुकराया!
मूल प्रश्न है यही कि अपना काश्मीर है सारा,
सधि-शर्त को आप बढ़ाते व्यर्थ नई उप-धारा।
नहीं-नहीं मैं इसे किसी भी तरह नहीं मानूँगा,
कहते जिसको आप मित्रता, मैं तो भय जानूँगा।
भय का मुझ पर भार डालकर चाहें मुझे झुकाना,
याद रहे जनता के आगे होगा मूल्य चुकाना।
हमसे अधिक समझती जनता राजनीति की बातें,
बिना कहे सब जानेगी वह कपट नीति की घातें।
इतिहासों के पृष्ठों पर हों चाहे जैसे अक्षर,
सबके ऊपर सदा उभरता जायेगा जन का स्वर।
इतिहासज्ञों का तो अपना एक स्वार्थ होता है,
स्वाथ किन्तु कब दंत-कथाओं की मसि को धोता है।

दंत-कथाएँ अपने भीतर युग का सत्य छिपाये,
युग-युग जनता की जिह्वा पर रहतीं ज्योति जगाये।
राजभवन में रह जायेगा कहीं क्षीण-सा मोखा,
जनता झाँक उसी से देखेंगी भीतर का धोखा।"

बहुत तरह से न्याय-नीति का ऊँच-नीच समझाया,
कोसीगन की किन्तु समझ में नहीं तर्क था आया।
उनके आगे बात एक ही केवल नाच रही थी,
कितनी साख रूस की देखें दुनिया जाँच रही थी।
दो देशों के बीच अगर यह संधि नहीं हो पाई,
कोसीगन की नहीं रूस की होगी जगत्-हँसाई।
दिन भर, बहुत रात बीते तक कोसीगन थे जागे,
कभी इधर मुड़, कभी उधर उड़ फिरते भागे-भागे।

लालबहादुर जी को भी तो नींद नहीं थी आई,
दिन भर चिंता मग्न रहे थे, जगकर रात बिताई।

कोसीगन ने एक बार फिर निज प्रभाव था डाला,
अंतिम तीर बचा था तरकश में से वही निकाला।
रक्षा-मंत्री साथ गए थे उनकी ओर निहारा,
वैदेशिक मंत्री से भी था उनको बड़ा सहारा।
दोनों से कर गूढ़ मंत्रणा आखिर यही विचारा,
संधि-पत्र पर हस्ताक्षर को छोड़ नहीं है चारा।

ध्वस्त हुई थीं आशाएँ जो वीर-पुरुष ने बाँधी,
अंतस्तल में लगी उमड़ने शंकाओं की आँधी।

लगे सोचने—'विश्व संघ में अपना मित्र रहा है,
काश्मीर का प्रश्न सदा ही 'वीटो' से सुलझा है।
कई बार भारत का इसने है सम्मान बचाया,
अपना-अपना ही होता है होता नहीं पराया।
हैं ब्रिटेन-अमरीका दोनों आँख मूँदकर जाते,
नहीं पक्ष ही लेते केवल शस्त्र-अस्त्र दे आते।
पाकिस्तान सदा ही दोनों के मन को अति भाता,
आगे भी ये वही करेंगे जो है उसे सुहाता।
जो प्रस्ताव रखेंगे मिलकर, कैसे फिर अवहेला—
राष्ट्र-संघ में कर पायेगा अपना देश अकेला?
बाध्य करेंगे सभी; टालना कैसे संभव होगा?
और अगर मानेंगे, कैसे फिर जायेगा भोगा?
कोसीगन की बात टालना यों भी नहीं उचित है,
रूस हमारा मित्र रहा है और चाहता हित है।
जनता को ये सारी बातें जाकर समझाऊँगा,
मिला समर्थन नहीं अगर, फिर कहाँ शांति पाऊँगा?
शांति! हाय रे! दो अक्षर ही कितने हैं बलशाली!
शांति इन्होंने मेरे मन की है सब ही हर डाली।
शांति खोजता दूर देश में चला यहाँ तक आया,
मन में शांति नहीं पर मेरे है अशांत यह काया।
एक ओर तो देख रहा हूँ सम्मुख देश खड़ा है,
दिए गए वचनों से मेरे मुझको हो जकड़ा है।
दिए गए वचनों से फिरना, होता पाप बड़ा है,
होगा देश-द्रोह; पाप का कितना बड़ा घड़ा है।
देख रहा हूँ सूर्य-वंश से मेरा भी है नाता,
जहाँ भले ही प्राण जाएँ, पर वचन नहीं है जाता।

प्राण गए यदि वचन निभाकर तो मैं जी जाऊँगा,
वचन गए यदि प्राण बचाकर क्या मुख दिखलाऊँगा।
और दूसरी ओर गूढ़ हैं राजनीति की बातें,
जिनके बिना देखनी होंगी फिर अँधियारी रातें।
युद्धों की फिर घटा भयानक नभ में घिर आएगी,
हा! निरीह वह भोली जनता यों ही पिस जाएगी।
वैसे भी है प्रश्न मित्र का, यह भी तुच्छ नहीं है,
मैत्री से बढ़कर क्या होता सुरपुर उच्च कहीं है!
दोनों में से कहो किसे मैं हृदय खोल अपनाऊँ,
कहो कि कैसे विकट द्वन्द्व से मैं निष्कासन पाऊँ?'

नहीं द्वन्द्व से कहीं निकलने का मिल पाया अवसर,
उनको करने पड़े सन्धि पर आखिर निज हस्ताक्षर।

हस्ताक्षर हो गए सभी को मिलने लगी बधाई,
दो देशों के बीच पटी थी, कितनी गहरी खाई।

संध्या को फिर कोसीगन ने सबको साथ बुलाया,
प्रीतिभोज के समय सभी से बढ़कर हाथ मिलाया।
कोसीगन के झूल रहे थे कर सुकुमार करों में,
दोनों नेता मिले भाव भर अपने नये स्वरों में।

बातचीत के बाद विदा की वेला हँसकर आई,
मिले हाथ से हाथ परस्पर, लेकर चले विदाई।

मैत्री का सम्बन्ध बढ़ा था, कोई नहीं पराया,
कहा—"ख़ुदा हाफ़िज़" अयूब ने, शास्त्री ने दुहराया।
"अच्छा ही हो गया" शब्द थे उनके नापे-तोले,
'ख़ुदा करेगा अच्छा ही" यों ख़ाँ साहब थे बोले।

साढ़े दस थे बजे रात के लौटे लालबहादुर,
थकी हुई थी देह और कुछ भारी था उनका उर।
हल्का भोजन लिया लौटकर सोमवार का दिन था,
राष्ट्र बना उनका ही अनुचर व्रत रखता इस दिन था।

था कितना आश्चर्य कि जिसने कभी न व्रत था तोड़ा,
फिर कैसे सिद्धांत स्वयं ही आज उन्होंने छोड़ा।
(आत्मघात ! विश्वासघात ! हम कहो कहें क्या भाई !
पाप शांत हो ! पाप शांत हो ! हमको राम दुहाई !)

भोजन के उपरांत फ़ोन पर भाव हृदय के खोले,
दिल्ली में दामाद, पुत्री, पत्नी से हँसकर बोले—
"ताशकंद के समझौते की ख़बर सुनी ही होगी,
प्रतिक्रिया भारत की जनता की इस पर क्या होगी ?
चाहूँगा मैं शीघ्र जानना इससे शांति मिलेगी,
सुनकर सारी बातें मेरे मन की कली खिलेगी।"

शांति-शांति का जाप उन्हें पर शांति नहीं मिलती थी,
आशंका के आतप-भय से कली नहीं खिलती थी।

चिंतन करते रहे देर तक रात गहन हो आई,
चिंतन के एकांत क्षणों में प्रतिध्वनि पड़ी सुनाई—
"लालबहादुर ! प्रतिक्रिया तू किसकी चाह रहा है ?
अपने मन को अपने मन से कैसे थाह रहा है ?
यह कैसी है सुरभि सन्धि, है दुरभि सन्धि यह भाई !
पगले ! प्रभु सत्ता की रक्षा कहाँ गई अपनाई ?
हाजीपीर, कारगिल से यदि हमको हटना होगा,
यह तो अपने स्वाभिमान का तिल-तिल घटना होगा।
कैसी प्रभु सत्ता यह तेरी नहीं समझ में आया,
क्या इसके ही लिए गया था अपना रक्त बहाया ?
यह कैसी है शांति कि जिसके पड़े नाम पर झुकना !
कहाँ वीरता ? अरे यही है घट से जल का चुकना।
घट से जल का चुकना है जीवन-महत्त्व का खोना,
जिसके कारण जीवन भर का रह जाता है रोना।
विश्व तुझे विजयी कहता है यह तो विजय नहीं है,
इससे बढ़कर बुरी पराजय होती नहीं कहीं है।
आह ! अरे ! यह कैसा तुझको बीच पंथ में मारा !
हारा वह जो जीत गया तू आज जीतकर हारा।"
इसी तरह से बहती जाती थी वह अन्तर्धारा !
ले-ले अपना नाम स्वयं को बार-बार धिक्कारा !

टूट रहा था भीतर-भीतर उधर देश का प्यारा !
इधर देश में दीखा नभ से टूटा एक सितारा !
टूटा तारा भला नहीं है किसी देश को होता !
यह तो है अपशकुन भयानक काल खड़ा हो रोता !

आते हैं भूकंप, आँधियाँ, अनावृष्टि है होती !
कँप जाते दिक्काल, मृत्यु है राजपुरुष को होती !
रह-रहकर सुन पड़ता कैसा अरे, श्वान का रोना !
हे मेरे भगवान् ! कौन-सा आज अमगल होना ?
मगल की वेला में कैसा यह प्रत्यूष-अमंगल ?
सहसा कैसा रुदन आह रे ! यह कैसा कोलाहल ?
अग्नि-कुंड में मंगल-घट को पागल कौन डुबोता ?
गंगाजल की जगह अश्रु में तोरण कौन भिगोता ?
शंखध्वनि की जगह रुदन यह ठीक नहीं है भाई !
पलक पाँवड़े बिछें और फिर गूँज उठे शहनाई !

कल है अपने शास्त्रिप्रवर की स्वागत-मंगल-वेला !
सोच रहा था एक पुरुष यह लेटा हुआ अकेला !
सहसा उसकी शंकाओं का करते हुए निवारण,
भारी और उदास स्वरों में होने लगा प्रसारण—
"शास्त्री जी अब नहीं रहे हैं, हृत्-गति बंद हुई है।"
सुना और मुरझाया जैसे उजड़ी छुईमुई है।

'शास्त्री जी अब नहीं रहे हैं', वज्रपात यह कैसा ?
आशा पर हिमपात प्रकृति-व्याघात हाय यह कैसा ?
मंगल मध्य अमंगल रे, समवाय हाय ! यह कैसा ?
न्यायपरायण विधना का अन्याय हाय ! यह कैसा ?

'शास्त्री जी अब नहीं रहे हैं', मिले वायु में स्वर थे,
जन-जन के अतिकरुण-रुदन-स्वर होने लगे प्रखर थे।

जागा भारत, ताशकंद में वीर हमारा सोता,
निकला सूरज शोक-सिंधु में सबको आज डुबोता।
कैसा हुआ अकाज आज सुख-साज सभी बिखरा है,
होना था जयकार वहीं अब हाहाकार भरा है।
हाय! समय से पहले कैसा समाचार यह आया?
खुला काल का गाल 'लाल' रे! उसके बीच समाया।

महाकाल की चाल प्रबल है नहीं समझ में आती,
कहलाता है देव किंतु है क्रूर, कठिन संपाती।

बुरी खबर को सुना देश ने आखिर जैसे-तैसे,
'शास्त्री जी अब नहीं रहे है', हुआ किंतु यह कैसे?
शका-सदेहों के बादल लगे घने हो घिरने,
गूढ-भेद के शंख लगे फिर मनःसिंधु पर तिरने।
ऐसे वीर-पुरुष का मरना सहसा नहीं सरल है,
छल-प्रपंच कर दिया किसी ने उनको महागरल है।
कूटनीति की समझ सका है कौन क्रूरतम घातें,
जितने मुख थे लगीं फैलने उतनी ही बहु बातें।

निकले नये शब्द फिर मुख से आँसू-बीच डुबोये—
"चिंता-ग्रस्त व्यस्त शास्त्री जी नहीं देर तक सोये।
संधि-पत्र की रही तैरतीं सम्मुख सब लेखाएँ,
प्रतिक्रिया भारत की बनकर उभरीं सब रेखाएँ।

समझौता जो हुआ हमारे वह अनुकूल नहीं था,
सोच-सिंधु में वे निमग्न थे मिलता कूल नहीं था।
था आभार रूस का लेकिन उनको भार बना था,
काल-सर्प-सा उन्हें विजय का वह गलहार बना था।
था विश्वास-भंग यह लखकर नींद नहीं थी आती,
साँसें थी अवरुद्ध ,क्षुब्ध थी, उनकी भीतर छाती।
'डाक्टर! डाक्टर!' की पुकार थी डाक्टर दौड़ आये,
महाप्राण वे अल्पप्राण को किंतु बचा कब पाये?
उखड़ी साँसें, सहसा उनको आई अंतिम खाँसी,
पर्दा ही रह गया पड़ा बस लगी सत्य को फाँसी!"

रह-रहकर रोती थी जनता कह-कहकर ये बातें—
"दिन उजले ले गया, गया दे ये अँधियारी रातें।"

जिसे देखकर योद्धाओं के मुख पर आती लाली,
वह निर्जीव पड़ा था पीला योद्धा प्रतिभाशाली।
कोटि-कोटि हृदयों की धड़कन जिसके बीच समाई,
दिल की धड़कन आज उसी की देती नहीं सुनाई।

कैसी अद्भुत बात नहीं था जन्म-पत्र बनवाया,
अपनी भावी का उसने था ज्योतिष स्वय लगाया—
"परिचर्या को निकट न होगा, होऊँगा जब रोगी।
दूर देश में जाकर मेरी, मृत्यु अकेले होगी।"
करके स्मरण उन्हीं की बात रोकर घड़ियाँ बीतीं,
रीती आँखें भरी-भरी थीं, भरी-भरी थीं रीती।

ताशकंद से वायुयान था उनका शव ले आय
उस छोटी नगरी ने अपना सब शृंगार लुटाया
अहह ! विषम कितनी होती है क्रूर काल की रेख
जिसका गौरव रहे निखरते उसका ही शव देखा
लाखों लोग खड़े होते थे पथ में नयन बिछाये
वही खड़े थे लुटे-पिटे-से नीचे मुख लटकाये

जयकारों की जगह मृत्यु का छाया था सन्नाटा
दिल्ली का शृंगार पुँछा था थी बीभत्स विराटा
सोच रहे सब टूट गिरे नभ और धरा फट जाए.
साहस किसी तरह कर शव को जनपथ तक ले आए।
कौन आँख थो ऐसी जो अब खड़ी नहीं रोती थी,
मर्मान्तिक थी व्यथा, काल को भी पीड़ा होती थी।
हृदय-विदारक था पुरजन का, सब परिजन का रोना,
राजभवन का रुदन कर रहा था बस कोना-कोना।
माता, बहिन, सुता, सुत, चाचा, पौत्र, सहायक सारे,
फूट-फूटकर बिलख-बिलखकर हुए अचेत बिचारे।

ललिता छिन्न लता-सी टूटीं भिन्न वृक्ष से होकर,
पति की चरण-सुधा वे पीतीं रहीं अश्रु से धोकर।
अपलक पति-मुख कभी देखतीं, कभी विसुध हो जातीं,
भू पर गिरतीं, उठकर, शव से लिपट-लिपट बिलखातीं।
"आह ! सदा तो छाया-सी मैं साथ-साथ थी जाती,
अबकी बार हुई क्यों विधना ! यह पत्थर की छाती।
गए अकेले हाय ! अकेले कैसे संभव जीना,
क्रूर काल ने अवसर पाकर जीवन-धन को छीना।

राम ! तुम्हारी कहो कौन-सी मैंने लूटी माया,
माथे का सिंदूर-बिन्दु जो मेरा तुम्हें न भाया।"

करुण रुदन के बीच अन्ततः अर्थी गई उठाई,
नभ की छाती फटी, दिशाएँ काँपीं, भू चिल्लाई—
"लौटा दो रे, कहाँ चले ले मेरा लाल बहादुर !"
फूट-फूटकर रोईं ललिता भर स्वर में कुररी-सुर।
सूनी आँखें शिथिल देह थी, बिखरे बाल घने थे,
नंगे पैरों दौड़ीं पीछे, स्वर सब अश्रु सने थे।
"जहाँ कहीं भी जाते हो तुम मुझे साथ ले जाओ,
नाथ ! अनाथ न छोड़ो दासी, पकड़ हाथ ले जाओ।"

रह गईं रोती-बिलखती जा चुके थे नाथ !
जा सका है कौन किसके कब कहो तो साथ ?
था नहीं वह रह गई थी शुद्ध मिट्टी मात्र !
मिल गया वह था उसी में था कि जिसका पात्र !
जा चुका था सब जगत् की मोह-माया छोड़ !
मिल गया था लघु मनुज को महत्तम वह क्रोड़ !
वह नहीं सामान्य नर था देवता का रूप !
दानवों पर मानवों का स्पष्टतम विद्रूप !
श्रम, तपस्या, धैर्य का था मूर्तिमान् प्रतीक !
देश-सेवा, स्फूर्ति, प्रतिमा-काव्य एक सटीक !
दलित, पीड़ित और नर जो साधनों से हीन,
था सभी का प्राण-दाता, दीखने में दीन।
वीर-पुरुषों का बना था वह हृदय-सम्राट् !
युद्ध का जयनाद लेकिन शांति-स्वप्न-विराट् !

उठ धरा से छू लिया उसने असीमाकाश !
देखती ही रह गई भू, पुत्र का इतिहास !
पी गया जग के लिए वह सब हलाहल घोल !
रच गया इतिहास नूतन और नव भूगोल !
देखता ही रह गया होकर चकित संसार !
लघु पगों से लाँघ डाले दुर्ग-पारावार !
दीन था जो हो गया है उच्चतम विभ्राट् !
लघु रहा था हो गया है और दिव्य विराट् !
विश्व करता ही रहेगा याद उसके काम !
कर गया वह अर्थयुत है दिव्य अपना नाम !
पूर्णिमा का दिव्यतम था पूजनीय मयंक।
देह की चादर रही उसकी सदा अकलंक।

ज्यों का त्यों तू धर गया, जीवन-निर्मल-चीर !
तुझको कोटि प्रणाम है, युग के नये कबीर !
विजय चक्र युत ध्वज लिए, वीर करेंगे मान !
विजय-घाट नित गायगा, तेरी जय के गान !